द्वितीय अध्याय

वैश्य समाज का इतिहास

वैश्य शब्द की उत्पति – वैश्य शब्द विश् धातु में क्विप् प्रत्यय लगने से बना हैं। विश् धातु का अर्थ है विशति, प्रविश्ति, प्रान्तरादावित घूमने वाले लोग। पाणिनी ने पाणि को ही वैश्य की संज्ञा दी।[1] पाणिनी ने वैश्य के लिए अर्यः शब्द का भी प्रयोग किया हैं। अर्यः स्वामि वैश्ययोः (3/1/103)[2]

आर्यो के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद में विश् शब्द का उल्लेख मिलता हैं। इस का प्रारम्भिक प्रयोग समूचे जन–समुदाय के अर्थ में किया जाता था।[3] आर्य सम्यता का विकास उन विश नामक कबीलों से प्रारम्भ हुआ, जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते रहते थे। अन्त में वे जहां बस गये, उसी का नाम जनपद पड़ गया।[4] जन का अर्थ है– कबीला और पद का अर्थ है स्थान। विश का नाम बड़ा ही महत्त्वपूर्ण था क्योंकि सम्पूर्ण समाज इस के अर्न्तगत आता था। जब आर्य भारत वर्ष में विस्तृत रूप से फैल गये और खेती–बाड़ी करते हुए जीवन यापन करने लगे, तो वे विश कहलाने लगे। डा0 परमेश्वरी लाल गुप्त का मत है कि वैदिक काल के आरम्भ में सारी जनता विश नाम से जानी जाती थी उनके अनुसार विश का अर्थ है– बैठना। घुमने फिरने के बाद जब आर्य लोग एक स्थान पर बैठ कर स्थायी रूप से व्यवसाय करने लगे तो उन की बस्ती विश कहलाने लगी और धीरे–धीरे वहां बसने वालों का नाम विश या वैश्य हो गया।[5] संस्कृत भाषा में यह अर्थ अभी तक चलता है।

विशत्याशु विशमश्च कृष्यादावरुचिशुचि।
वेदाध्ययनापन्नः स वैश्य अति संज्ञितः।। (पद्म पुराण)[6]

---

[1] गुप्त, चम्पा लाल, अग्रोहा एक ऐतिहासिक धरोहर, अग्रोहा, हिसार, 1996, पृ० 73
[2] पाणिनी, अष्टाधायी, पृ० 17,
[3] काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग–1, लखनऊ, 1965, पृ० 111
[4] अग्रवाल, डा० स्वराज्यमणि, अग्रसैन, अग्रोहा अग्रवाल, नई दिल्ली, 1980, पृ० 146
[5] वही, पृ० 146
[6] गुप्त, चम्पा लाल, अग्रोहा एक ऐतिहासिक धरोहर, अग्रोहा, हिसार, 1996, पृ० 73

इस विश में कुछ लोग ऐसे थे, जो शस्त्र क्रिया में दक्ष थें, उन्हें क्षत्रिय तथा मंत्रादि रचने की क्षमता रखते थे, उन्हें विश में 'ब्राह्मण' की संज्ञा से सम्बोधित किया गया।

कुछ समय उपरान्त ऐसा लगता है– इस विश समुदाय से ब्राह्मण और क्षत्रिय अलग हो गये, जो बचे वे विश कहलाते रहें। यही शब्द बाद में विश्य और वैश्य हो गया।[1]

किन्तु बाद में जब मनुष्य ने वर्ण–व्यवस्था में एक निश्चित रूप प्राप्त कर लिया, तो विश शब्द का उपयोग समाज के उस वर्ग को व्यक्त करने के लिए किया जाने लगा, जो कृषि, गोपालन तथा व्यापार में संलग्न था।[2]

भारतीय परिकल्पना के अनुसार ब्रहम् ही सृष्टि के आदि कर्त्ता है। उन्हें विराट पुरूष की संज्ञा दी गई है। ब्रहम् ने एक से बहुत होने की कामना (एकोऽहं बहुस्यामः) से सृष्टि का विस्तार किया। ऋग्वेद के पुरूष सूक्त में उसकी सुन्दर व्याख्या मिलती है। वैश्य शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य ऋग्वेद में सब से पहले पुरूष सूक्त अथार्त् दशम मण्डल में आता है, जो अपेक्षाकृत आधुनिक है।[3]

ब्राह्मणोऽस मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः
उरू तदस्य यद्वैश्यःपद्भ्यां शूद्रो अजायत।। (1.0/90/12)[4]

सम्पूर्ण सृष्टि को उस विराट पुरूष का अंग मानते हुए, उसकी कल्पना शरीर के चार अंगों के सन्दर्भ में की गई है। उस के अनुसार ब्रह्म के मुख से ब्राह्मणों की, भुजाओं से क्षत्रियों की, जंघाओं से वैश्यों की और पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति हुई। इस परिकल्पना के मूल में समाज को सुचारू रूप से चलाने की भावना ही थी। यह व्यवस्था गुण–कर्म के

---

[1] वही, पृ० 88
[2] अग्रबाल, डा० स्वराज्यमीण, अग्रसेन अग्रोहा अग्रवाल, नई दिल्ली, 1980, पृ० 146, यर्जुवेद (31/11)
[3] गुप्ता, डा० जगन्नाथ प्रसाद, भारतीय वैश्य इतिहास के झरोखें से, पटना, 1997, पृ० 1
[4] ऋगवेद सहितां, झज्जर, रोहतक, 1984, पृ० 707, मिश्र, जबशंकर प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना, बिहार, 1986, पृ० 55

परम्पराएं उन से मिलती–जुलती थी। जब वे पूर्ण रूप से उनमें घुल मिल गये तो उनकी सतत पर्यटनशील वृत्ति के कारण उनका नाम वैश्य पड़ गया।[1]

भारत के सामाजिक इतिहास में वर्ण व्यवस्था का महत्त्पूर्ण स्थान है, जो सामाजिक विभाजन के रूप में वैदिक काल से आज तक उत्तर से दक्षिण तक निरन्तर प्रवहमान है। इस व्यवस्था के अर्न्तगत भारतीय समाज का वणों में विभाजन किया गया था।[2]

भारतीय साहित्य में वर्ण शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम ऋग्वेद में हुआ है। मनु ने वेद के आधार पर वर्ण व्यवस्था का विकास किया है। यजुर्वेद (31/10–11) में जो

यत्पुरूषैव्यदधुः कतिधाव्यकल्पयन्।
मुख किमस्पासीत्किम् बाहूकिमरू पादा उच्चते।।
(यजुर्वेद 31/10–11)[3]
ब्राह्मणोऽस मुखमासीद्वाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यों शूद्रो अजायत्।। (यजुर्वेद 31/11)[4]

वर्ण व्यवस्था प्रदर्शित की है, मनु ने उसी को यथावत् प्रस्तुत किया है यह व्यवस्था जन्मना न हो कर कर्मणा है। इस श्लोक में ओर

लोकानान्तु विवृद्धियर्थ मुख बाहूरूपायादातः।
ब्राह्मणं क्षत्रिय वैश्यै शूद्र च निवर्तमत्।। (1/31)[5]

मनुस्मृति में भी यह स्पष्ट किया गया है कि समाज में चार वर्णो का निर्माण मुख, बाहु, उरू और पैर की तुलना के अनुसार हुआ है और तदानुसार ही कर्मो का निधारर्ण किया है।

नाविशेषीऽस्ति वर्णानां सर्व ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्राह्मणा पूर्व सृष्टा हि कर्माभिर्वर्णताऽगतम्।। 88

---

[1] गुप्त, डा0 चम्पा लाल, अग्रोहा एक ऐतिहासिक धरोहर, अग्रोहा, हिसार, 1996, पृ० 73, गुप्त रामेश्वर दयाल, वैश्य समुदाय का इतिहास, पृ० 61
[2] मिश्र, डा० जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना, बिहार,1986, पृ० 50
[3] यजुर्वेद, 31/10, मनुस्मृति, पृ० 77
[4] यजुर्वेद, 31/11, मनुस्मृति, पृ० 78
[5] गुप्ता, डा० रामेश्वर दयाल वैश्य समुदाय का इतिहास, नई दिल्ली, 1996, पृ० 31,मिश्र, डा० जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ०57

आधार पर थी और उसमे समाज के कार्यो का चार वर्णों में इस तरह विभाजन कर दिया गया था, जिससे सृष्टि का क्रम ठीक ढ़ग से चलता रहे।[1]

अर्थवेद में उरू के स्थान पर 'मध्यतदस्थयद् वैश्य' इस प्रकार की उक्ति है।

तैत्तिरीय संहिता(7/1/4/1/9) में कहा गया है कि प्रजापति ने वैश्य वर्ण अन्नाकार से उत्पन्न किया है।

सर्वईदं ब्राह्मण सृष्टं ऋगम्यों जातं वैश्यवर्णभाहुः

यजुर्वेदं क्षत्रियस्याहु योनिम सामवेदों ब्राह्मणनाम प्रसूतिः। (तैत्तिरीय ब्राह्मण3/12/93)[2]

तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि समस्त विश्व की सृष्टि ब्रह्मा द्वारा हुई है। ऋक् से वैश्य वर्ण उत्पन्न हुआ, यजुर्वेद से क्षत्रियों और सामवेद से ब्राह्मण उत्पन्न हुए।

इसमें वैश्य वर्ग का निर्धारण, कर्म के आधार पर, एक ऐसे समुदाय के लिए किया गया, जिसका मुख्य कार्य कृषि, गोपालन और व्यापार माना गया। श्री वामन पुराण में कहा गया कि वैश्य गण यज्ञाध्ययन से सम्पन्न, दाता, कृषि कर्त्ता तथा वाणिज्य जीवी हो तथा पशुपालन का कर्म करें।[3]

ऋग्वेद में वैश्यों के अनेक उल्लेख मिलते हैं। इन्हें विश, पाणि आदि संज्ञाएं प्रादन की गई हैं। यास्काचार्य ने पाणियो को ही व्यापारी कहा है–पाणिर्वणिग् भवति (2/17)[4]

प्राचीन समय में जब मुद्रा का प्रचलन तथा वस्तुओं का आदान–प्रदान ही वस्तु प्राप्ति का साधन था, तो वस्तुओं का आदान–प्रदान करने वालों को पाणि की संज्ञा दी गई। बाद में आर्यों के प्रसार के कारण समाज का विभाजन जब आर्य और अनार्य में होने लगा, तो आर्यों ने पाणि लोगों को अपने में मिला लिया, क्योंकि कृषि, गोपालन, शाकाहार आदि की

---

[1] गुप्त, डा0 चम्पा लाल, अग्रोहा एक ऐतिहासिक धरोहर, अग्रोह,ा हिसार, 1996, पृ० 73
[2] मण्डारी, चंद्रराज, अग्रवाल जाति का इतिहास, बम्बई, 1939, पृ० 8
[3] गुप्त, डा0 चम्पा लाल, अग्रोहा एक ऐतिहासिक धरोहर, अग्रोहा, हिसार, 1996, पृ० 73
[4] यास्काचार्य, निरूक्त, नरेला, दिल्ली, 1976, पृ० 142

कामभोगीप्रियास्तीक्ष्णः क्रोधिना प्रियसाहसाः।

त्यक्त स्वधर्मारक्ताडग्ास्त द्विजाः क्षत्रतांगता।। 89

गोभ्यो वृतिमास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः।

स्वधर्मान्नानुतिष्ठन्ति ते द्विजाः वैश्यतां गताः।। 90

हिंसानृत, प्रिय लुब्धा, सर्वकर्मोपजींविनः।

कृष्णाः शौच परिभ्रिष्टास्ते द्विजाः शूद्रांता गताः।। 91

(महा० भा० शा० पूर्व० अ० 188)[1]

(मनुस्मृति 1/88–91)

जो व्यक्ति इन कर्मो का पालन करेगा, वह उस उस वर्ण का अधिकारी होगा।

वर्ण शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के 'वृञ वरणे' अथवा वरी धातु से हुई है, जिसका अर्थ है 'चुनना या वरण करना'। 'वर्ण और वरण' शब्दों मे साम्य भी है। संभवतः 'वर्ण' से तात्पर्य वृत्ति से है, किसी विशेष व्यवसाय के चुनने से। समाज शास्त्रीय भाषा में 'वर्ण' का अर्थ 'वर्ग' से है, जो अपने चुने विशिष्ट व्यवसाय से आबद्ध है। वास्तव में वर्ण उस सामाजिक वर्ग की ओर इंगित करता है जिसका समाज में विशिष्ट कार्य और स्थान है, जो अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण समाज के अन्य वर्गों अथवा समूहों से सर्वथा अलग होता है तथा अपने हितों की स्थितियों के विषय में जागरूक होता है।[2]

स्वयं वर्ण शब्द इस व्यवस्था को कर्माधारित व्यवस्था सिद्ध करता है। निरूक्त में वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति दी है वर्णो वृणोतेः (2/1/4) अर्थात कर्मानुसार जिस का वरन् किया जाये वह वर्ण है।[3] इस प्रकार प्रकाश डालते हुए स्वामी दयानन्द लिखते हैं –

वर्णो वृणोतेरिति निरूक्त प्रामाण्याद् वर्णिया वरीतुमर्हाः गुणकर्माणि च दृष्टवा यथायोग्यं व्रियन्ते ये ते वर्णाः।।

(ऋ० भा० भू० वर्णाश्रम कर्म विषय)[4]

---

[1] वही, पृ० 35, महा० भा० शा० पूर्व०, पृ० 188

[2] मिश्र, डा० जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना, बिहार, 1986, पृ० 51

[3] निरूक्त

[4] मनुस्मृति, पृ० 78

दैवी सिद्धान्त के रूप में वर्ण व्यवस्था के उद्भव का वर्णन महाभारत में भी किया गया हैं, अन्तर केवल इतना है कि विराट पुरूष के स्थान पर ब्रह्मा का उल्लेख किया गया है।

ब्राह्माणो मुखतः सृष्टो ब्रह्मणो राजसत्तम।
बाहुभ्यां क्षत्रियः सृष्ट उरूभ्यां वैश्य एवं च।।
वर्णानां परिचार्यार्थ त्रयाणां भरतर्षभ।
वर्णश्चतूर्थः संभूत पद्भ्यां शूद्रो विनिर्मितः।। (महाभारत शान्तिदवे 122.4–5)[1]

गीता में भी भगवान श्री कृष्ण का कथन है कि चारों वर्णो के सृष्टि मैने गुण और कर्म के आधार पर की है तथा मैं ही उन कर्त्ता और विनाशक हूँ ।

चातुर्वण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः।
तस्य कर्तारमयि यां विद्धयकर्न्तारमव्ययम्।। (गीता 4.13)[2]

रामायण (3.14.29–30) के अनुसार[3]

मुखतो ब्राह्मणा जाता उरसः क्षत्रियास्तथा।
उरूभ्यां जज्ञिरे वैश्या पद्भां शूद्रा .....

पुराणो में भी वर्णो का उद्भव ईश्वरीय माना गया है तथा वर्ण–व्यवस्था के महत्त्व को तद्वत् स्वीकार किया गया है।

त्वन्मुखात् ब्राह्मणास्त्वर्त्ता बाहोंः क्षत्रमजायत।
वैश्यास्तवों रूजाः शूद्रास्तव पद्भ्यां समुद्गताः।। (विष्णु पुराण 1.12.63–64)

वामदेवस्तु भगवान सृजन्मुखतो द्विजान्।
राजन्यान् सृजद्बाहोर्वित् शूद्रानुरूपादयोः।। (मत्स्य पुराण 4.28)
वक्त्रादस्य ब्राह्मणः सम्प्रसूता यद्वक्षतः क्षत्रिया पूर्वभागे।
वैश्याश्चारोर्यस्य पदभ्यांच शूद्राः सवै गात्रतः संप्रसूता। (वायु पुराण 9.113)[4]

---

[1] मिश्र, डा० जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना, बिहार, 1986, पृ० 57
[2] वही, पृ० 57
[3] वही, पृ0 57
[4] वही, पृ० 58

ग्यारहवी सदी के लेखक अरब यात्री अलबेरूनी ने भी वर्णो की उत्पत्ति के विषय में उद्धत कथनों से मिलता जुलता ही विवरण दिया है।[1]

<u>वर्ण व्यवस्था –</u> किसी भी संगठित समुदाय के लिए कार्य–विभाजन की प्रणाली आवश्यक हो जाती है। प्रत्येक संगठित समाज के कुछ नियम होते हैं, जिन का उद्देश्य संगठन का स्थायित्व बनाए रखना और समुदाय के समस्त व्यक्तियों के पारस्परिक संबंध को सुव्यवस्थित बनाना तथा उसकी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करने की व्यवस्था करना रहता है। ये नियम वैचारिक पृष्ठ भूमि में बनाए जाते है और समुदाय के कुछ व्यक्ति इसी चिन्तन के कार्य में लग जाते हैं। समुदाय के इस वर्ग को भारत में ब्रह्मण की संज्ञा दी गई। समुदाय की बाह्य और आन्तरिक सुरक्षा के लिए उपयुर्क्त विचारकों के द्वारा बनाए गए सामाजिक नियमों का पालन कराने के लिए समाज को एक प्रशासक वर्ग की भी आवश्यकता होती है, जिसे भारत में क्षत्रिय की संज्ञा दी गई। इन दोनों बर्गो के अतिरिक्त तीसरा वर्ग, जो सभ्यता के प्रारम्भ में खेती–बाड़ी, गोपालन तथा वस्तुओं के आदान–प्रदान में लगा, वह वैश्य कहलाया। प्रत्येक संगठित समाज में एक ऐसे वर्ग की आवश्यकता पड़ेगी, जो उपर्युक्त तीनों वर्गो अर्थात क्षत्रिय, ब्रह्मण, वैश्य की उन के कार्यो में सहायता करे। यह वर्ग स्वयं खेती–बाड़ी, गोपालन आदि सम्बन्धित सम्पत्ति के स्वामी के रूप में कार्य न कर सके अर्थात् वे स्वामियों के साहयक के रूप में कार्य करेगा। भारत में यही वर्ग शूद्र कहलाया।[2]

वैश्य समाज वाणिज्य व्यवस्था द्वारा सभ्यता के प्रारम्भ काल से ही अपनी विशिष्ट छाप अंकित करता आया है। प्रारम्भ में वर्णो के संस्तरण में वैश्यों को तीसरा स्थान प्राप्त था और ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य ऊपर के तीनों वर्ण द्विज वर्ण माने जाते थे। इन को अध्ययन करने, यज्ञ करने और दान करने का अधिकार प्राप्त था। वैश्यस्याध्यमनं भजनं दानं कृषि पाशुपालाये वाणिज्यां च[3] किन्तु कालान्तर में समृद्धि के कारण दान में तो यह वर्ण अग्रणी

---

[1] वही, पृ० 58

[2] अग्रवाल, डा० स्वराज्यमणि, अग्रोहा अग्रसेन अग्रवाल, नई दिल्ली, 1980, पृ० [illegible]

[3] त्रिपाठी, डा० हरीश चन्द्र मणि कोटिलयमर्थशास्त्रम, बनारस, 1913, पृ० 261

रहा, परन्तु यज्ञ और अध्ययन आदि में अन्य द्विज वर्णो में पिछड़ गया। इस का मुख्य कारण यह लगता है कि वैश्यों की जो श्रेणियां विशेष शिल्प या व्यापार पर आधारित की, उन के लिए शिक्षा का प्रबन्ध या तो पैतृक होता था अथवा श्रेणी द्वारा ही व्यवस्थित किया जाता था। उस के लिए किसी आचार्य के पास शिक्षा लेने के लिए जाना आवश्यक नहीं था।[1]

<u>वर्ण और जाति–</u> भाषा कोश के अनुसार जाति शब्द जात (सं0) शब्द से व्युत्पन्न है। जात का अर्थ है – जन्म, पुत्र आदि। जाति भी एक तत्सम शब्द है जिसका मूल अभिप्राय पंक्ति से है, जो जाति–बिरादरी के अर्थ में प्रयुक्त होता है। भाव यह है कि जो एक पंक्ति अर्थात् एक वर्ग विशेष में उत्पन्न हुए हैं वे एक जाति हैं। अरबी में यह शब्द जात है जिसका अर्थ है – शरीर, देह, जाति आदि अर्थात् जिनमें पूर्वजों का समरक्त है, वह मानव समूह एक जाति है।[2]

जाति शब्द से ही ध्वनित होता है कि इसमें मर्यादा की भावना अन्तर्निहित है। मर्यादा से तात्पर्य है कि कुछ विशिष्ट मान्यताएँ, क्रियाएँ, सामाजिक एवं धार्मिक प्रथाएँ उससे सम्बन्धित होती हैं, जिनमें कुछ ऐसे रीति–रिवाज भी होते हैं जिन्हें अन्धविश्वास के नाम से जानते हैं।[3]

भारत में जाति प्रथा पीढ़ी दर पीढ़ी अनेक शताब्दियों से चली आ रही है। हमारे देश में जाति अपरिवर्तनीय है, अर्थात् मनुष्य अपना धर्म बदल सकता है, किंतु अपनी जाति नहीं बदल सकता। हमारे पारिवारिक जीवन की आधारशिला जन्म से लेकर वैवाहिक व्यवस्था व मृत्युपर्यंत इसी जातिय तत्व पर अवलम्बित रहती है। पश्चिमी विद्वान टायलर ने जाति व्यवस्था की आवश्यकता का प्रतिपादन निम्न शब्दों में किया है – "भारत में जाति समूह एक मौलिक सांस्कृतिक आवश्यकता है, किसी भी जाति की आदि परम्पराएँ, ज्ञान, विशिष्ट संस्कार कला, नैतिक आचार–विचार, विश्वास, रूढ़ियाँ, रीति–रिवाज, आदतें एवं

---

[1] अग्रवाल, डा० स्वराज्यमणि, अग्रोहा, अग्रसेन, अग्रवाल, नई दिल्ली, 1980, पृ० 151
[2] जैन, डा० विमल कुमार, वाष्णेय दर्पण, दिल्ली, 1997, पृ० 27
[3] वही, पृ० 27

क्षमताएँ उस सांस्कृतिक धरातल में समाहित होते हैं जिनका प्रत्येक जातिय सदस्य कुछ परिवर्तन और कुछ संशोधन के साथ उन्हें वंशानुक्रम से आत्मसात और ग्रहण करता चलता ।[1]

डॉ0 वी0ए0 स्मिथ ने बताया है कि जाति परिवारों के उन समूहों को कहते हैं जो आपस में संस्कार, वंश तथा कई विशेष कार्यों के लिए विशेष नियमों से बंधे हुए हैं।[2]

वैदिक युग में 'जाति' जैसे किसी शब्द का उल्लेख नहीं मिलता। उस समय केवल वर्ण व्यवस्था थी और कार्यानुरूप व्यक्ति को किसी वर्ण विशेष से जुड़ा मानते थे। उत्तर वैदिक युग के प्रारम्भ में विभिन्न वर्णों में पृथकता की भावना आरम्भ हो गई और तीनों वर्ण शुद्र वर्ण को अपने से अलग और त्याज्य मानने लगे।[3]

भारत के प्राचीन शास्त्रकारों ने समाज को चार वर्णो में विभक्त किया है। ये चार वर्ण है–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। पर भारत में जिन सैंकड़ों जातियो की सत्ता है, उन सब को किसी वर्ण के अर्न्तगत कर सकना सम्भव नहीं है। जाट और कायस्थ सदृश कितनी ही ऐसी जातियां हैं, वर्ण विभाजन की दृष्टि से जिन्हें किस वर्ण का माना जाए, यह निर्धारित नहीं किया जा सकता। शास्त्रों के अनुसार कृषि और पशुपालन वैश्यों के कार्य माने गये हैं और जाट जाति के लोग प्रायः कृषक और पशुपालक ही होते हैं। परन्तु वे स्वयं को वैश्य नहीं मानते। उन्हें न ब्राह्मणों के अर्न्तगत रखा जा सकता है न क्षत्रियों के और न शूद्रों के। कायस्थ जाति के लोग प्रायः मुंशी गिरी से अपना निवार्ह करते रहे हैं और उनमें शिक्षा का भी बहुत प्रचार रहा है, परन्तु उन्हें ब्राह्मण नहीं माना जाता। खत्री, अरोड़े प्रायः व्यापार और दुकानदारी के धन्धे करते है, परन्तु वे स्वयं को वैश्य नहीं समझते। गूजर, अहीर गडरिया आदि जातियों को किस वर्ण के अर्न्तगत रखा जाए, यह भी निर्विवाद नहीं है। नाई और बढ़ई सदृश जातियों के लोग स्वयं को ब्राह्मण कहने लगे है। अधिक ब्राह्मण

---

[1] भारतीश, कर्मेन्द्रमणि, वाष्णैय दर्पण, दिल्ली, 1997, पृ० 19
[2] कमल, रमेश नील, वैश्यों का उद्‌भव और विकास, पटना, 1986, पृ० 20
[3] वही, पृ० 21

उनके इस दावे को मानने को तैयार नहीं है। वस्तुतः जातियों की वर्णो से पृथक व स्वतन्त्र सत्ता है और जातियों की उत्पत्ति तथा विकास का वर्ण–भेद के विकास के साथ कोई सुनिश्चित संबंध नहीं है।[1]

अष्टाध्यायी में वर्ण, जाति और बन्धु में तीन शब्द आये है। वर्ण प्राचीन शब्द था। उसके स्थान पर जाति शब्द चलने लगा था, जो इस अर्थ में अपेक्षाकृत नवीन था। कात्यायान और श्रोतसूत्र में जाति का अर्थ केवल परिवार है।[2] एक वर्ण में उत्पन्न हुए व्यक्ति परस्पर स्वर्ण होते थें (6/3/85, समान वर्ण) जाति का एक एक व्यक्ति बन्धु कहलाता था। जात्यंताच्छ बेधुनि (5/4/9) सूत्र का अभिप्रायः यह है कि जातिवादी शब्द से ढः प्रत्यय लगाकर उस जाति के एक व्यक्ति का बोध किया जाता है, जैसे ब्राह्मण जातीयः, क्षत्रिय जातीय वैश्य जातीयः।[3]

गोत्र का सामान्य अर्थ है – एक कुल, एक वंश, एक परिवार, एक खानदान अथवा एक कुनबा, जो कि एक मूल पुरूष से अपना सम्बन्ध मानता है। गोत्र का निर्माण एक वंशसमूह से होता है, दूसरे शब्दों में एक ही पूर्वज की सभी संतानें सम्मिलित की जाएं तो वे एक गोत्र का रूप धारण कर लेती हैं।[4]

गोत्र अष्टाध्यायी का महत्वपर्ण शब्द है। पाणि के अनुसार अपत्यं पौत्र प्रभृति गोत्रम् (4/11/162) यह गोत्र की परिभाषा थी। इस का अर्थ था पौत्र, प्रभृति यद पत्यं तद् गोत्र संज्ञ भवति, अर्थात् एक पुरखा के पोते, पड़पोते आदि जितनी संतान होगी वह गोत्र कही जायेगी। गोत्र–प्रवर्तक मूल पुरूष को वृद्ध, स्थविर या वैश्य भी कहते है।[5]

दिगम्बर जैनाचार्य श्री भद्रवीर सेन स्वामी ने ध्वला टीका में इस प्रकार गोत्र की परिभाषा की है गोत्रं, कुलं वंशः, सन्तानम्, भित्येको अर्थः।[6]

---

[1] विद्यालंकार, सत्य केतु, अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास, नई दिल्ली, 1997, पृ० 64–65
[2] मिश्र डा० जय शंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना, बिहार, 1986, पृ० 163
[3] अग्रवाल, डा० वासुदेव शरण, पाणिनी कालीन भारत वर्ष, नई दिल्ली, 1966, पृ० 105 , वही, पृ० 162
[4] अग्रोहाधाम, अग्रोहा, हिसार, 2003, पृ० 12
[5] डा० रामेश्वर दयाल गुप्त, वैश्य समुदाय का इतिहास, नई दिल्ली, 1966, पृ० 46
[6] वही, पृ० 25

श्री माल पुराण के अनुसार –

कुल देवी प्रवक्ष्यामि गोत्रे गोत्रे पृथक–पृथक।
वितृ स्थानादि कर्मादि शाखा सर्व प्रवर्तते।।[1]

डा0 ए0एल0 बाशम ने गोत्र का अर्थ गौ समूह बताया है।[2]

पाणिनि – व्याकरण के अनुसर गोत्रों और चरणों की भी पृथक जातियां होने लगी थी। भाष्यकार ने जाति की परिभाषा के अर्न्तगत गोत्रों और चरणों को भी गिना है–
गोत्रंञच चरणैः सह (4/1/69)

भारतीय सामाजिक जीवन प्रारम्भ में वर्ण व्यवस्था पर आधारित किया गया, किन्तु कालान्तर में वर्ण का स्थान जाति ने ले लिया। आज लोगों के व्यवसाय, उद्योग धन्धो, खान–पान, रहन–सहन, पहनावा, वैवाहिक संबंध, धार्मिक संस्कार रीतिरिवाज आदि सब जाति से ही निश्चित होते जा रहे है। वर्ण और जाति कालान्तर में बिल्कुल अलग–अलग संस्थाएं हो गई है। इस विकास प्रक्रिया में सामाजिक नियन्त्रण को शक्ति के रूप में वर्ण का महत्त्व घटता चला गया तथा जाति का महत्त्व बढ़ता चला गया।[3]

<u>वैश्यों के कर्त्तव्य–</u> वैश्यों के मुख्य कार्यो के संबन्ध में विभिन्न युगों में स्मृतिकारों ने भिन्न–भिन्न निर्देश दिए है।

गौतम धर्म सूत्र के अनुसार कृषि, वाणिज्य, पशुपालन और कुसीन्द वैश्यों के मुख्य कार्य थे।[4] मनुस्मृति के अनुसार कृषि, पशुपालन रक्षा, दान देना, अध्ययन करना और कुसीन्द वैश्यो के कार्य हैं।[5]

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक् पथं कुसीदं च वैश्यश्च कृषिमेव च।।

[1] वही, पृ० 25
[2] वही, पृ० 24, बाशम, डा० ए० एल० अद्भुत भारत, आगरा, 1988, पृ० 155
[3] अग्रवाल, डा० स्वराज्यमणि, अग्रोहा, अग्रसेन, अग्रवाल, नई दिल्ली, 1980, पृ० 152
[4] गौतम धर्म सूत्र
[5] मनुस्मृति

श्री वामन पुराण,अध्याय 75, श्लोक 46 में भी बताया गया है –

यज्ञाध्ययन–सम्पन्ना दातारः कृषिकारिणः।

पाशुपाल्यं प्रकुर्वन्तु वैश्या विपणिजीविनः।।

वैश्य–गण यज्ञाध्ययन से सम्पन्न दाता, कृषिकर्त्ता तथा वाणिज्य–जीवी हों तथा पशु पालन का कर्म करें।[1]

महाभारत में कहा गया है कि कृषि, गौरक्षा और वाणिज्य वैश्यों के स्वाभिवक कर्म थे। वैश्यों का मुख्य कार्य था धनोपार्जन करना। वैश्यों धनार्जम कुयार्त।

महाभारत में उल्लेख आया है कि सर्वाधिक धनाढ्य होने के कारण राज्य को सर्वाधिक कर देने वाला वैश्य वर्ग ही था। उपातिष्ठनत कौनतेयं वैश्या इव कर प्रदाः[2] (2.47.28)।

कौटिल्य ने भी अध्ययन, भजन, दान, कृषि, पशुपालन और वाणिज्य वैश्यों का कर्म बताया है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार :–

वैश्यस्य–अध्ययनं यजनं दानं कृषिपाशुपालाये वाणिज्या च[3]

मनुस्मृति के अनुसार –

यो यत्र तत्र व्यवहारविधासु प्रविशति सः 'वैश्य'

व्यवहार विधाकुशलः जनो वा।

अर्थात जो विविध व्यवहारिक व्यापारों मे प्रवष्टि रहता है या विविध व्यवहारिक विधाओं मे कुशल जन वैश्य होता है।

ब्राह्मण ग्रंथो के अनुसार –

एतद् वै वैश्यस्य समृद्धं यत् पशवः (ता० 18/4/6)

तस्मादु बहुपशवैश्व देवो हि जागतो (वैश्यः) (ता० 16/1/10)[4]

---

[1] कमल, रमेश नील, वैश्यों का उद्‌भव और विकास, पटना 1985 पृ० 15

[2] महाभारत, गीता प्रैस गोरखपुर, उत्तर प्रदेश, 1956, पृ० 385

[3] त्रिपाठी, डा० हरीशचन्द्र मणि, कौटलीयमर्थशास्त्रम, वाराणसी, 1919, पृ० 270

[4] वही, पृ० 81

पशुपालन से ही वैश्य की समृद्धि होती है। यह वैश्य का कर्त्तव्य है।

तैत्तिरीय संहिता (7/1/4/9) में कहा गया है कि प्रजापति ने वैश्य वर्ण अन्नाकार से उत्पन्न किया है।[1]

तैत्तिरीय संहिता (7.11.7) के अनुसार इस वर्ग का मुख्य कार्य पशुपालन और अन्नोत्पादन था।[2]

वैश्य वर्ग का तीसरा स्थान था। बंजारा एवं पशुपालन की अवस्था का पार करने के पश्चात् आर्यों ने व्यवस्थित ढंग से कृषि काम अपना लिया। कृषि आर्यों की एक नई विशेषता हो गई। इस व्यवस्था में खेती, पशुपालन एवं व्यापार करने की जिम्मेदारी मुख्य रूप से वैश्य के कंधों पर आ गई। वैश्यों ने अनेक बस्तियों के बीच आर्थिक सम्बन्ध स्थापित किये। धीरे–2 वैश्यों का एक वर्ग किसान हो गया। इस वर्ग का मुख्य काम खेती हो गया। दूसरा वर्ग व्यापारियों का हो गया।[3]

'वैश्य' का प्रधान कर्त्तव्य था पशुपालन कृषि और वाणिज्य। अध्ययन, भजन और दान तो वह करता था। किन्तु बाद में व्यस्तता के कारण अध्ययन का कर्म उस से छूट गया और उसनें अपना पूरा समय कृषि और वाणिज्य में लगाया। इस संबंध में बौधायन का कथन है कि कृषि और वेदाध्ययन परस्पर विरोधी हैं।

वेदकृषि विनाशाय कृषिर्वेद विनाशिनी।

(बौद्ध धर्म सूत्र 1.5.93–94)[4]

---

[1] तैत्तिरीय संहिता, डा० रामेश्वर दयाल गुप्त, वैश्य समुदाय का इतिहास, नई दिल्ली, 1996, पृ० 62
[2] मिश्र, डा० जयशंकर प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना, 1986, पृ० 82
[3] गुप्ता, डा0 जगन्नाथ, भारतीय वैश्य इतिहास के झरोखे से, पटना, बिहार, 1997, पृ० 3
[4] मिश्र, डा० जयशंकर प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना, 1986, पृ० 89

प्रायः वैश्य व्यक्ति इन दोनो कर्मो को एक साथ अनुपालित नहीं कर पाता था इस लिए वैश्य वर्ण से अध्ययन छूट गया। उसने अपना पूरा समय अर्थ लाभ के निमित कृषि, पशुपालन वाणिज्य और कुसीद में लगाया।

वैश्यास्याधिकं कृषिवणिक्यालुपात्यंकुसीदम्

(गौतम धर्म सूत्र 10.1.3)[1]

इस काल के ग्रन्थों में हमें वाणिज्य शब्द मिलता है जिससे पता चलता है कि इस काल में व्यापार बड़े पैमाने पर होने लगा था। व्यापारी व्यापार के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाया करते थे। महाजनी प्रथा की चर्चा हमें शतपथ ब्राह्मण में देखने को मिलती है जिसमें सूद पर रूपया देने की बात है। सूदखोर को कुसुदिन कहा गया है।[2]

जैसे जैसे सामाजिक व्यवस्था सुदृढ होती गई, वैसे–वैसे धन–संग्रह का समाज में एक विशेष महत्त्व हो गया और ब्याज के लिए ऋण देना भी एक प्रमुख उधम हो गया। स्वाभावतः यह कार्य भी समाज के इसी वर्ण ने अपनाया, जिस के कारण आगे चलकर समृद्ध वैश्य सेठ या महाजन कहलाने लगे। यही वैश्य समुदाय राजा या जनपद को कर देता था। आपत्तिकाल में जन सामान्य की रक्षा करता था और युद्ध आदि के समय आवश्यकता पड़ने पर प्रशासन में भी एक प्रमुख स्थान प्राप्त करता था। विभिन्न स्त्रोतों से देश के आर्थिक और राजनीतिक जीवन पर वैश्य समुदाय के प्रभाव एवं महत्व के प्रमाण मिलते है।[3]

प्राचीन काल में वैश्य वर्ग एक सुसंगठित वर्ग बन गया था, जो कृषि, गोपालन, उधोग एवं वाणिज्य में लगा हुआ था। यही वे व्यवसायी हैं, जो समाज की मूल आवश्यकताओं को पूरा करते हैं तथा उस को समृद्ध और शक्ति प्रदान करते हैं। वैश्य वर्ग अपनी सुरक्षा की आवश्यकता के कारण एक संगठित वर्ग था। इसके सदस्यों को अपने व्यापार के सम्बन्ध में दूर–दूर तक यात्रा करना आवश्यक रहता था। क्षेमेन्द्र ने कथा मंजरी में धन गुप्त नामक वर्णिक का उल्लेख किया है जो ताम्रज्ञिप्ति से समीपवर्ती द्वीपों में जाकर

---

[1] वही, पृ० 89

[2] गुप्ता, डा0 जगन्ननाथ, भारतीय वैश्य इतिहास के झरोखे से, पटना, 1997, पृ० 4

[3] अग्रवाल, डा० स्वराज्यमणि, अग्रोहा, अग्रसेन, अग्रवाल, नई दिल्ली, 1980, पृ० 150

व्यापार किया करता था।[1] इसलिए वे अपनी सुरक्षा के लिए समुचित व्यवस्था स्वंय करते थे।

जैसा कि स्वाभाविक था धनोपार्जन के कार्य में लगे रहने के कारण यह वर्ग समाज का सबसे समृद्ध वर्ग बनता गया।[2]

वैश्य वर्ण के लिए बौद्ध साहित्य में 'वेस्स' 'गृहपति', 'सेट्टि', 'कुटुम्बिक' आदि शब्द मिलते हैं। बौद्ध युग में वैश्य गृहपति भी कहे जाते थे। 'सेट्टि' अथवा सेठ (बड़े व्यापारी) के साथ–साथ वह बैंकपति और सार्थवाह भी था। सार्थवाह दूरस्थ प्रदेशों की यात्रा करते हुए व्यापार करते थे। काफिलों के साथ वे पश्चिम से पूर्व और पूर्व से पश्चिम की ओर सामग्री के आदान–प्रदान के लिए जाते थे। श्रावस्ती–निवासी अनाथर्पिडक नामक श्रेष्ठि अपनी व्यापारिक सामग्री के साथ राजगृह आता जाता था।[3] अमरकोश 378 में पान्थानं वहति सार्थवाह; उल्लेखित है।[4]

बौद्ध युग में ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि उस काल में इस वर्ग ने अपनी समृद्धि और दान प्रियता के कारण समाज में अपना विशेष महत्वपूर्ण स्थान बना लिया था।[5]

महा वग्ग में एक श्रेष्ठी का वर्णन आया है जिसने अपने धन से राजा और व्यापारी निगमों का भला किया था।[6](8.1.16) जातक में अनेक ऐसे व्यापारियों का वर्णन आया है जिन्होने भिक्षु संघ को, राज्य को, समाज को करोड़ों रूपये का दान प्रदान किया था।[7] मगध निवासी के एक सेठ ने भिक्षु संघ को अस्सी करोड़ कार्षापण का दान दिया था।

---

[1] मिश्र, जय शंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना, बिहार, 1986, पृ० 140
[2] अग्रवाल, डा० स्वराज्यमणि, अग्रोहा, अग्रसेन, अग्रवाल, नई दिल्ली, 1980, पृ० 150
[3] मिश्र, जय शंकर, प्राचीनभारत का सामाजिक इतिहास, पटना, बिहार, 1986, पृ० 94
[4] उपाध्याय, डा० वासुदेव, प्राचीन भारतीय अभिलेख, भाग–2, पटना, बिहार, 1970, पृ० 17
[5] अग्रवाल, डा० स्वराज्यमणि, अग्रोहा, अग्रसेन, अग्रवाल, नई दिल्ली, 1980, पृ० 151
[6] महा वग्ग, मिश्र डा० जयशंकर प्राचीनभारत का सामाजिक इतिहास, प्राचीनभारत का सामाजिक इतिहास , पटना, 1986, पृ० 94
[7] जातक, भाग–1, पृ० 349, मिश्र डा० जयशंकर, प्राचीनभारत का सामाजिक इतिहास, पटना, 1986, पृ० 94

भृंगार श्रेष्ठी की कन्या विशाखा ने श्रावस्ती में नौ करोड़ की लागत से बुद्ध के लिए चैत्यालय स्थापित किया था।[1]

गुप्त युग में स्थान–स्थान पर इन के दान देने की प्रवृति का उल्लेख हुआ है। गुप्त अभिलेखों के अनुसार वैश्य सदा से दानी, सदाव्रती, कर्म निष्ठ रहे। गुप्त राज्यों की रहन सहन अत्यन्त सीधी एवं सात्विक थी। फाह्यान ने लिखा है कि सारे देश में कोई अधिवासी हिंसा नहीं करता था। सम्पूर्ण भारतवासी साधारण जीवन में दाल, चावल, रोटी, दूध, घी, शक्कर आदि का प्रयोग करते थे। इनकी प्रवृति परलोकोन्मुखी अधिक थी। राज्य के निवासी भ्रष्टाचार, पाप–पुण्य से डरते थे। यह आख्यान वैश्यों की उस प्राचीन परम्परा की ओर संकेत करता है, जहां वे कर्म काण्डी होते हुए भी अहिंसा की ओर झुके थे। उसने आगे लिखा है कि "जनपद के वैश्यों के मुखिया ने नगर में सदावर्त तथा औषधालय स्थापित किया था। फाह्यान ने सेठ सुदत्त द्वारा निर्मित विहार देखा था।"[2]

नए नए व्यापारियों ने सुविधा एवं सुरक्षा दृष्टि से संगठित होकर रहना पसंद किया। इन लोगों का संगठन लगता है श्रेष्ठी अर्थात् प्रधान या मुख्य शब्द श्रेष्ठी से बना है। बाद के वैदिक ग्रंथ ऐतेरेय ब्राह्मण में श्रेष्ठी शब्द की चर्चा की गई है। यह शब्द शायद किसी व्यापारियों के संघ के प्रधान या श्रेष्ठ के लिए किया गया है।[3]
गुप्त युग में उन्हें श्रेष्ठि, वाणिक सार्थवाह आदि नामों से भी सम्बोधित किया जाता था।[4]

कुमारगुप्त प्रथम के अभिलेख में कोटि वर्ष (उत्तरी बंगाल) के सार्थवाह बंधुमित्र का नाम मिलता है। तथा बंधुगुप्त के दामोदर पुर ताम्रपत्र में सार्थवाह बसुमित्र का नामोल्लेख है।

चाहमान लेखों में इन्हें वाणजारक बनजारा कहा गया है। समस्त वण्जारेषु–वृषभ भरित जतु पाइलाल गमने, (ए० इ० भाग 11 पृ० 43)[5] अपनी समृद्धि और सामाजिक

---

[1] अग्रवाल, डा० स्वराज्यमणि, अग्रोहा, अग्रसेन, अग्रवाल, नई दिल्ली, 1980, पृ० 220
[2] वही, पृ० 219–220
[3] गुप्ता, डा0 जगन्ननाथ, भारती वैश्य इतिहास के झरोखे से, पटना, 1997, पृ० 4
[4] मिश्र, जय शंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना, 1986, पृ० 98
[5] उपाध्याय, डा० वासुदेव, प्राचीन भारतीय अभिलेख, भाग–2, पटना, 1970, पृ० 17

उपयोगिता के कारण जहां भौतिक दृष्टि से इस समुदाय ने बहुत उन्नति की, वहां एक दृष्टि से इस को क्षति भी उठानी पड़ी।

गुप्त सम्राट और स्वयं सम्राट हर्ष वैश्य था, उसने दान देने की अनोखी परम्परा कायम की। प्रति बारह वर्ष पर प्रयाग में एक धार्मिक मेला लगता था जहां सम्राट अपना सब कुछ दान कर खाली हाथों राजधानी वापस लौटता था। उनके व्यवसाय से राज्य की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होती थी। अतः समाज में उनका आदर अधिक था। हवेनसांग ने भी लिखा है कि तीसरा वर्ण वैश्यों या व्यापारियों का था जो पदार्थों का विनियमन कर लाभान्वित होते रहे। (वाटर हवेनसांग भाग–1 पृ०68) वैश्य पूर्णतः एक ठोस जाति थी, जिस ने अपने व्यावसायिक कार्यों के कारण अपनी बिरादरी का नाम ऊँचा उठा लिया था। आचार्य भगवान देव ने अपनी पुस्तक हरयाणे के वीर यौधये में निम्न वैश्य वर्ण का धर्म बताया है।[1]

तथैव देवि वैश्याश्च लोकयात्राहिताः स्मृताः।
अन्ये तानुपजीवन्ति प्रत्यक्ष फलदा हिते।।
यदि न स्युस्तथा वैश्या न भवे मुस्तथापरे।
वैश्यस्य सततं धर्मः पाशुपाल्यं कृषिस्तथा।
अग्नि होत्रपरिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च।। 54
वाणिज्यं सत्यथस्थानमातिच्यं प्रशमो दभः।
विप्राणं स्वागतं त्यागो वैश्यधर्मः सनातनः 55

वैश्य जाति में उप जातियों का विकास

धर्म शास्त्र युग में जाति व्यवस्था का रूप और स्पष्ट कर दिया। इसका प्रारम्भ तीसरी शताब्दी से हुआ और धर्म का महत्व अधिक बढ़ जाने से ब्राह्मण ईश्वर और मनुष्य के बीच प्रतिनिधि माने जाने लगे। जाति के नियम कठोर बनाए गए तथा उनका

[1] देव, आचार्य भगवान, हरयाणे के वीर यौधये, झज्जर, हरियाणा, 1965, पृ0 145–146

तनिक भी उल्लंघन व्यक्ति को जाति–च्युत बना देता था। फलस्वरूप उपजातियों का निर्माण होना प्रारम्भ हो गया।

विभिन्न वर्ण धीरे–धीरे उपसमुदायों में विभक्त होने लगे। आरम्भ के चार वर्णों में से एक प्रकार के श्रम–विभाजन की व्यवस्था की गई थी। अब प्रत्येक वर्ण में श्रम–विभाजन की प्रक्रिया और आगे बढ़ी तथा एक वर्ण के अन्तर्गत आने वाले छोटे–छोटे समुदाय पृथक–पृथक उधमों में स्थायी रूप से लग गए। यह स्वाभाविक था कि जब कोई परिवार या समुदाय किसी विशेष उधोग में निपुणता प्राप्त कर ले और उस व्यापार या उधोग को सुव्यवस्थित ढ़ंग से चलाने की सारी व्यवस्था संगठित कर ले तो उस परिवार की आने वाली पीढ़ी भी उसी विशेष उधम में लगे। इस प्रकार विभिन्न उधम पुश्तैनी बन गए और जाति का आधार कर्म न होकर जन्म बन गया, जो कालान्तर में विभिन्न उपजातियों में पुनः विभाजित हो गया।[1]

जिन तत्वों ने वर्णों को विभिन्न जातियों में विभाजित कर दिया था, उन्हीं तत्वों ने आगे चलकर जातियों को उपजातियों में भी बांट दिया और वैवाहिक सम्बन्धों, खान–पान, छुआछूत आदि के सम्बन्ध में जो कट्टरता तथा निषेधात्मक प्रतिबन्ध जाति में थे, वही उपजातियों में भी आ गए। जातियों का उपजातियों में विभिक्त होते रहने का क्रम अत्यन्त प्राचीन है, किन्तु विद्वानों का यह मत है कि दसवीं शताब्दी के बाद से भारतीय समाज में जो राजनैतिक परिवर्तन हुए, और जिनके फलस्वरूप भारतीय धर्म और संस्कृति के लिए एक महान संकट उत्पन्न हो गया, उस का सामना करने के लिए और भारतीय धर्म और संस्कृति की रक्षा करने के लिए जातियां और भी सुदृढ़ बनती चली गई तथा इनको धार्मिक आधार प्रदान करके भारत ने अपने धर्म और संस्कृति की रक्षा की।[2]

उप जातियों का उद्‌भव मूलतः व्यावसायिक कारणों से हुआ किन्तु कालान्तर में इन उपजातियों का निर्माण दूसरे तत्वों ने भी किया। यही कारण है कि आज भारत में असंख्य

---

[1] अग्रवाल, डा० स्वराज्यमणि, अग्रोहा, अग्रसेन, अग्रवाल, नई दिल्ली, 1980, पृ० 154
[2] वही, पृ० 159–161

जातियां पाई जाती हैं। उपजातियां कुछ तो कौटुम्बिक नामों से, कुछ व्यापारिक नामों से, कुछ शहर के नामों से, कुछ पेशों के नाम से और कुछ पदों के नाम के अनुसार बनती गई।[1]

व्यापारियों के लिए वणिक (3/3/52) और वाणिज (6/2/13) ये दोनो शब्द प्रयुक्त होते थे। व्यापारियों के नाम कई कारणों से पड़ते थे, उनके व्यापार की विशेषता से, व्यापार की वस्तुओं से, पूंजी के आधार पर अथवा वे जिन देशों में वाणिज्य करते हो उनके नाम से।[2]

पणिनी ने एक विशेष प्रकार के व्यापारी को सांस्थानिक कहा है। (4/4/72 संस्थाने व्यवहरीत) संस्थान का अर्थ विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। प्राचीन भारत में आर्थिक जीवन की तीन मुख्य संस्थाएं थी। शिल्पियों के संगठन को श्रेणी, व्यापारियों के संगठन को निगम (3/3/119, निगच्छन्तीति निगमः) और एक साथ माल लाद कर वाणिज्य करने वाले व्यापारियों को सार्थवाह कहते थे। व्यापारी वस्तुओं के नाम से भी प्रसिद्ध हो जाते थे, जैसे अश्ववणिजः, गोवणिजः (6/2/13) इसी प्रकार उन देशों के नाम से जिनके साथ वे प्रायः व्यापार करते थे, व्यापारियों का नाम पड़ा (गन्तव्य पव्यं वाणिजे 6/2/13) जैसे काश्मीर वाणिज, मद्र वाणिज, गान्धरि वाणिज (मद्रादिषु गत्वा व्यवहरान्तीत्यर्थः)[3]

भारत के उत्तरी भाग में विदेशियों का दबाब जब अधिक होने लगा तब वहां से लोगों ने हटना प्रारम्भ किया, और यही जन यत्र–तत्र जा कर बसे, वहीं अपने देश व जनपद का नाम लेते गए। कालान्तर में जिनके नाम पर वे उप जातियों के रूप में प्रसिद्ध हुए, आचार–विचार में उनकी संस्कृति देश काल के अनुसार बदलती गईं, पर मूल देश का नाम वही रहा, यहीं से उपजातियों का इतिहास प्रारम्भ हुआ।[4]

---

[1] अग्रवाल, डा0 वासुदेवशरण, पाणिनी कालीन भारत वर्ष, वाराणसी, 1969, पृ० 228
[2] वही, पृ० 227
[3] वही, पृ० 228
[4] अग्रवाल, डा० स्वराज्यमणि, अग्रोहा, अग्रसेन, अग्रवाल, नई दिल्ली, 1980, पृ० 160

अग्रवाल –

अग्रवाल जाति का सम्बन्ध वैश्य समुदाय से है। अग्रवाल शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं और विभिन्न विद्वानों ने अपने ढ़ंग से इसकी व्याख्या की है। भारतेन्दु हरिशचन्द्र के अनुसार अग्रवाल शब्द अग्र+वाल दो शब्दों से मिलकर बना है। जिसका अर्थ है अग्र की संतान अर्थात् महाराजा अग्रसेन का बालक, जगन्नाथ प्रसाद रत्नाकर का मत है कि अग्रवाल सेना के अग्र भाग की रक्षा करते थे, इसलिए उस का नाम अग्रपाल पड़ा, जो अग्रवाल शब्द के रूप में परिवर्तित हो गया। एक मत के अनुसार – अग्रसेन का अर्थ है – सेना के अग्र भाग में रहने वाले और अग्रवाल क्योंकि सदैव सेना की अगली पंक्ति में रहते थे, इसलिए उनका नाम अग्रवाल पड़ा।[1]

यह भी कहा जाता है कि प्राचीन समय में यज्ञ की अधिकता के कारण जो लोग अगर (एक प्रकार की सुगन्धित लकड़ी जो यज्ञ में प्रयुक्त होती थी) का व्यापार करते थे, वे अगरवाल या अग्रवाल कहलाए।

इसी प्रकार कहा जाता है कि महाराजा अग्रसेन वैश्य समुदाय में सबसे अग्रगण्य पुरूष थे, इसलिए उनकी संतान अग्रवाल कहलाई। जो सबसे अग्र रहे, वह कहलाता है अग्रवाल। इस प्रकार की व्याख्या भी अग्रवाल शब्द की करी गई है।

इस सम्बन्ध में सर्वमान्य मत यह है कि अग्रवाल आग्रेयगण या अग्रोहा के मूल निवासी थे। अग्रवाल जाति की उत्पत्ति की विवेचना करते हुए डॉ0 सत्यकेतु विद्यालंकार लिखते हैं –"मैं अग्रवाल जाति की उत्पत्ति आग्रेयगण से मानता हूँ।" इस आग्रेयगण का उल्लेख प्राचीन ग्रंथों में निम्न स्थान पर आता है –

भद्रान रोहतकांश्चैव आग्रेयान मालवान् अपि।
गणान् सर्वान् विनिर्जित्य नीतिकृत प्रहसन्निव।।[2]

(महाभारत वन पर्व 255.20)

---

[1] गुप्त, डा0 चम्पालाल अग्रोहा एक ऐतिहासिक धरोहर, अग्रोहा, हिसार, 1996, पृ० 55–86
[2] महाभारत, भंडारी चंद्रराज, अग्रवाल जाति का इतिहास, भाग–2, बम्बई, 1939, पृ० 5

इस श्लोक में जिस आग्रेयगण का उल्लेख किया गया है, वह निश्चित रूप से अग्रोहा ही था।

वनं पुरगामिश्रका सिधका, सारिका, कोटसग्रेभ्यः पुरगावण, मिश्र कावण, सिधकावण, सारिका कावण, कोटरावण और अग्रेवण। (अष्टाध्यायी 8/4/41)[1]

अग्रेवण निश्चित रूप से अग्रजनपद, जिसकी राजधानी अग्रोदक (अग्रोहा) थी, में स्थित वन का नाम था। (पृ० 42)

डा0 वासुदेव शरण अग्रवाल, डा0 परमेश्वरी लाल गुप्त एवं राधा कमल मुखर्जी ने आग्रेयगण के अस्तित्व को निर्विवाद रूप से स्वीकार किया है।

काठक संहिता, आपस्तवं श्रोत–सूत्र तथा अष्टाध्यायी में भी आग्रि, आग्रेय और आग्रायण का उल्लेख आया है। (अष्टाध्यायी 4/1/99)[2]

वर्तमान अग्रोहा प्राचीन अग्रोदक या अग्रोतक है। स्थानीय किदवंती के अनुसार महाभारत काल में यह राजा अग्रसेन की राजधानी और स्थान का नाम अग्रसेन का ही अपभ्रंश है। यवन सम्राट सिकंदर के भारत आक्रमण के समय 327 ई0पूर्व) यहाँ आग्रेगण राज्य था। चीनी यात्री चेमांङ (फाह्यान) ने भी आग्रोदक का उल्लेख किया है।[3]

अरोड़े, खत्री, सहरालिए, अग्रवाले आदि अनेक जातियों के अन्तर्गत जो बहुत सी अल्ले या उप जातियां हैं, उनके नामों में पाणिनीय नामों की पहचान मिलती है। जैसे अरोड़ा, खत्रियों में कंवर, हंस, चौपे, खेते में अल्लों या जाति उप विभागों के नाम है जो पाणिनि के कुमार नडादिगण (4/1/11) हंसक नडादिगण (4/1/11) चुप अश्वादिगण में चौपायन (4/1/10) क्षैतयत तिकादिगण (4/1/54) गोत्र नामों से सम्बन्धित है।[4]

---

[1] अष्टाध्यायी, पृ० 42
[2] भंडारी, चंद्रराज, अग्रवाल जाति का इतिहास, भाग–2, बम्बई, 1939, पृ० 6
[3] माथुर, विजेन्द्र कुमार, ऐतिहासिक स्थानावली, नई दिल्ली, 1969, पृ० 10
[4] अग्रवाल, डा0 वासुदेवशरण, पाणिनी कालीन भारत वर्ष, वाराणसी, 1969, पृ० 89

अग्रोहा की खुदाई से जो मुद्राएं मिली हैं उन पर 'अगोदके अगाच्च जनपदस' शब्द अंकित मिले हैं। इन तीनों शब्दों में ही अग्रवाल जाति और उनके नामकरण का रहस्य छिपा हुआ है। आजकल जिसे हम अग्रोहा कहते हैं, उसका प्राचीन नाम ही अग्रोदक था। जो कालान्तर में अग्रोहा बन गया। यह अग्रोहा एक जनपद की राजधानी था, जिस का नाम अग्र या अग्रयेगण था। इस जनपद के मूल वैश्य निवासी, जब वहां से चारों ओर फेले, तो वे अपना परिचय अग्रोहा वाले, अग्रवा वाले के रूप में देने लगे और उसी से उनका नाम अग्रवाल पड़ गया, जो भाषा शास्त्र के अनुरूप है। आज भी सामान्य बोली में अग्रोहा को अग्रवा के नाम से पुकारा जाता है। अन्य वैश्य जातियों या समुदायों के नामों का विश्लेषण करने पर भी यह व्याख्या या मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है। जैसे ओसवाल, खंडेलवाल, पालीवाल आदि। जातिसूचक शब्दों में प्रथम नाम किसी स्थान या जनपद विशेष का है, जिसमें मध्यकालीन 'वाल' प्रत्यय जुड़कर इनका निर्माण हुआ जैसे ओसिया में वाल प्रत्यय जुड़कर ओसवाल, खंडेला में वाल प्रत्यय जुड़कर खण्डेलवाल, ठीक उसी प्रकार अग्र में 'वाल' प्रत्यय जुड़ने से अग्रवाल बन गया है।[1]

आज भी जिस क्षेत्र विशेष में अग्रवालों का एक बहुत बड़ा भाग केन्द्रित है, वह अग्रोहा से कुछ सौ किलोमीटर की परिधि में ही है। कालान्तर में यही स्थान बोधक नाम जाति बोधक बन गया।

<u>अग्रवाल शब्द की प्राचीनता –</u> अग्रवाल शब्द का प्रचलन कैसे हुआ इस संबंध में डा० परमेश्वरी लाल गुप्त, जैन साहित्य के विद्वान अगर चन्द नाहटा, श्री परमानन्द शास्त्री आदि ने गम्भीर अध्ययन किया है और अब तक प्राप्त प्रमाणों, शिलालेखों, प्राचीन ग्रन्थों में उल्लेख आदि के आधार पर निष्कर्ष निकाला है कि अग्रवाल शब्द का प्रचलन किसी न किसी रूप में ई० सन् 1100 के आसपास हो गया था। प्राकृत भाषा के जो ग्रन्थ मिलते हैं उस से पता चलता है कि इस शब्द का प्रचलन प्रारम्भ में 'अगरवाल' या 'अयरवाल' के रूप में था।[2] सन 1132 में तोमर वंशीय राजा अंगपाल तृतीय के शासन काल में कविवर श्रीधर द्वारा रचित 'पासणाह चरिउ' (पार्श्वनाथ चरित्र) में अयरवाल जाति का उल्लेख है।

---

[1] गुप्त, डा0 चम्पालाल अग्रोहा एक ऐतिहासिक धरोहर, अग्रोहा, हिसार, 1996, पृ० 86–87

[2] वही, पृ० 87,

सण वासि एयारह सएहि,
परिवाडिए वरि सहं परिगएहिं।
कसणटठभीहिं आगहणमीस,
रविवारि समाण्डि सिसिर भासि।।[1]

इसी प्रकार (सम्वत् 1393) सन 1336 में रचित दातृ प्रशस्ति में अयरवाल और यश कीर्ति द्वारा रचित हरिवंश पुराण में अयरवाल शब्द का उल्लेख किया गया है –

1. सिरि अयरवाल वंशहि पराणु, तो संघ हे अच्छतु विनयपाणु (पाण्डव पुराण)
2. तहि अयरवाल वसहि पहाणु, सिरि गडगनो गगेय भाण (हरिवंश पुराण)[2]

अग्रचन्द नाहटा ने सुधारू जैन कवि का उल्लेख किया है जिसने सन् 1354 में प्रधुम्नचरित की रचना की थी। इस कवि ने अपना परिचय स्पष्ट रूप से अग्रवाल के रूप में दिया है।

मइया मीकड़ कीयहु बखाण, तुम पानुन पासउ निखाण।
अगरवाल की मेरी जाति, पुर अगरोए मोहि उत्त्पति।।[3]

इसी प्रकार सन् 1498 में कवि छीहल ने अपना परिचय देते हुए लिखा है कि

जातिगवंश सि नाथु सुतनु, अगरवाल कुल प्रगटरवि।
बावनी बसुधा विस्तरी कवि कंकण छीहल कवि बावनी।।[4]

---

[1] शास्त्री श्री परमानन्द जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह द्वितीय भाग पृ 48,
[2] गुप्त, डा0 चम्पालाल अग्रोहा एक ऐतिहासिक धरोहर, अग्रोहा, हिसार, 1996, पृ० 87, डा0 स्वराजमणि, अग्रवाल, अग्रोहा अग्रसेन अग्रवाल, पृ0222
[3] गुप्त, डा0 चम्पालाल अग्रोहा एक ऐतिहासिक धरोहर, अग्रोहा, हिसार, 1996, पृ० 87
[4] अग्रवाल, डा० स्वराज्यमणि, अग्रोहा, अग्रसेन, अग्रवाल, नई दिल्ली, 1980, पृ० 223

डा0 परमेश्वरी लाल गुप्त ने पता लगाया है कि फिरोजशाह तुगलक के शासन काल में सन् 1370 में मुल्ला दाउद ने अपने ग्रंथ में अग्रवाल जाति की चर्चा की थी। सन् 1540 में जयसी कृत 'पद्मावत' (सिंहलद्वीप खण्ड बाजार) में भी अग्रवाल जाति का उल्लेख मिलता है।

अग्रवाल चौहान चन्देले, खत्री और पंचवान बघेले।

1519 में माणिक्यचन्द्र ने अपना जीवन परिचय देते हुए लिखा था –

अयरवाल सुप्रसिद्ध विभासिउ। सिंघलु गोत्रउं सुवण समासिउ।।[1]

प्राचीन ग्रंथों में जहां अगरवाल, अयरवाल जैसे शब्दों का प्रयोग मिलता है, वहां कतिपय ग्रंथों में अग्रोतकानवय शब्द का भी उल्लेख हुआ है। प्रयाग के सुप्रसिद्ध प्राचीन नगर कौशम्बी के निकट पभोसा हाड़ा (प्रभास पर्वत) की धर्मशाला में विक्रमी सम्वत 1881 की एक प्रशस्ति लगी हुई है। उसमें निर्माता का परिचय 'अग्रोतकान्वय गोयल' गोत्री कहकर दिया गया है। अग्रोतक अथवा अग्रोदक अग्रोहा का ही प्राचीन नाम है।[2]

इन सब प्रमाणो से स्पष्ट होता है कि अयरवाल अग्रोतकान्वय, अगरवाल जैसे शब्दो का प्रचलन 11वी० शताब्दी में हो गया था।

<u>प्राचीन वैश्य वंश –</u> इतिहास में ऐसे अनेक कुलों का उल्लेख मिलता है, जो वैश्य थे और जिन्होने व्यापार–व्यवसाय के साथ उच्च कोटि की राज्य एवं प्राशासनिक प्रतिभा का परिचय दिया।

---

[1] गुप्त, डा0 चम्पालाल अग्रोहा एक ऐतिहासिक धरोहर, अग्रोहा, हिसार, 1996, पृ० 87

[2] वही, पृ० 88

महाराजा अग्रसेन और अग्रवाल जाति – महाभारत युद्ध से 51 वर्ष पूर्व अग्रोहा में अग्र जनपद की स्थापना हो चुकी थी। महाराजा अग्रसेन वहां के प्रतापी राजा थे। उनके राज्य में एक लाख आबादी थी और उनका राज्य दूर दूर तक फेला था। उन्ही महाराजा अग्रसेन से आगे जाकर अग्रकुल परम्परा चली और अग्रवाल समाज के रूप में एक नये गौरवपूर्ण समाज का आविर्भाव हुआ।[1]

महाजनपदों का उदय और विकास – कालान्तर में भारत के राजनीतिक मानचित्र पर सोलह महाजन पदों का उदय और उत्कर्ष हुआ। यह काल बुद्ध काल से भी 150–120 वर्ष पूर्व था। इस काल में अहिच्छत्र (पांचाल), अयोध्या (कौशल), कौशाम्बी और मथुरा जनपदों में अनेक वैश्य राजाओं के राजवंशों ने शासन किया। इस सम्बन्ध में मूलदेव, वायुदेव, विशाखा देव, घनदेव, बृहस्पति मित्रा, वरूण मित्रा, अश्वकोष, ब्रहममित्र, उत्तम दत्त, रमा दत्त, शिव दत्त, भावदत्त आदि अनेक राजाओं का उल्लेख मिलता है।

अनेक जनपदों में वैश्य राज्य या गणराज्य के प्रधान तो नहीं थे किन्तु राज्य के मंत्रीमण्डल में उनका महत्वपूर्ण स्थान था। धन और साधन–सम्पन्नता के कारण वे राज्य को आवश्यकता पड़ने पर सहायता भी करने लगे थे।[2]

मोहनजोदड़ो तथा हडप्पा सभ्यता – भारत की प्राचीन सभ्यता के अवशेष मोहन जोदडो तथा हडप्पा सभ्यता में मिले हैं। इस सभ्यता से प्राप्त अवशेषों से उस समय के वैश्य समुदाय (वणिकों) की आश्चर्यजनक प्रतिभा का परिचय मिलता है। उस समय वैश्यों ने जिन नगरों का निर्माण कराया वैसे वैज्ञानिक ढंग से बने नगर विश्व में अन्यत्र नहीं मिलते। उनमें जल–निकास, सफाई आदि की व्यवस्था कहीं अधिक स्वच्छ और वैज्ञानिक थी। ललित कला, शिल्प कला और निर्यात व्यापार पराकाष्ठा पर थे तथा मानव निर्मित बन्दरगाहों से पूरे विश्व को सोने–चांदी के गहनों से लेकर पीतल के बर्तनों तक अनेक

[1] गुप्त, डा0 चम्पालाल अग्रोहा एक ऐतिहासिक धरोहर, अग्रोहा, हिसार, 1996, पृ० 75
[2] वही, पृ० 75

वस्तुओं का निर्यात किया जाता था उनकी नाप–तोल तथा दशमलव प्रणाली अत्यन्त विकसित थी।[1]

उल्लेख के अनुसार 2000 ई० पूर्व यहूदी नरेश सुलेमान ने चन्दन तथा हाथी दांत के सामान तथा बहुमूल्य वस्त्रों का भारतीय वणिकों से पर्याप्त मात्रा में आयात किया था। मेसोपटामिया, वेबीलोन तथा सीरिया आदि देशों में भारतीय व्यापारियों के कार्यालय खुले हुए थे, जहां भारी मात्रा में उद्योग–व्यवसाय का संचालन होता था।[2]

<u>जैन तथा बौद्ध धर्म काल –</u> 700 ई० पूर्व तक भारत के वणिक वैदिक धर्म का ही पालन करते आए थे, किन्तु 600 ई० पूर्व भारत में जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म का उदय हुआ। इन धर्मों के काल में भी वैश्य समाज की परम्पराएं अक्षुक्ष्ण्य बनी रहीं।

उस समय के साहित्य से पता चलाता है कि तत्कालीन युग में अनेक वैभवशाली वैश्य विद्यमान थे। उनके पास अपार सम्पति तथा वैभव था। उपासुक दशासूत्र नामक एक जैन ग्रंथ में आनन्द नामक एक वैश्य का उल्लेख मिलता है, जिसमें उस समय के वैश्यों की प्रतिष्ठा का अनुमान लगता है। इस आनन्द नामक वैश्य का 4 करोड़ रूपये का सोना ऋण रूप में बंटा हुआ था और 4 करोड़ का सोना भूमि आदि में लगा हुआ था। उसके पास 40 हजार गाएं और भैंसे थी। 500 गाड़ियां विदेश में तथा उतनी ही स्वदेश में व्यापार के लिए चलती थी। उसके चार जलयान विदेशों में तथा 4 ही जलयान स्वदेशी व्यापार में लगे थे।[3]

जातककथा की निदान कथा में हम देखते हैं कि श्रावास्ती का प्रसिद्ध व्यापारी अनाथपिण्डिक राजगृह अपने किसी व्यापारिक कार्य से 500 गाड़ियों को साथ लेकर गया था और इसी समय प्रथम बार उसने भगवान बुद्ध के दर्शन किए थे।[4]

जातक में अनेक ऐसे श्रेष्ठियों (अनाथपिण्डिक) (सेरिवा) का उल्लेख मिलता है जिन्होने भिक्षु–संघ, राज्य तथा समाज को करोड़ों रूपयों का दान दिया था। मगध निवासी

---

[1] वही, पृ० 75
[2] वही, पृ० 75
[3] वही, पृ० 76
[4] गुप्ता, डा0 जगन्ननाथ, भारतीय वैश्य इतिहास के झरोखे से, पटना, 1997, पृ० 13

एक सेठ द्वारा भिक्षु–संघ को अस्सी करोड़ कार्यापण दान का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार भृंगार श्रेष्ठि की कथा तथा विशाखा द्वारा श्रावस्ती में 9 करोड़ की लागत से बुद्ध के लिए चैत्यालय स्थापित करने का विवरण मिलता है।[1]

बौद्धकाल में वैश्यों का आर्थिक जीवन समृद्ध था। बौद्धकालीन अनेक सौदागरों की अपार सम्पत्ति का वर्णन पाली स्त्रोतों में मिलता है। चाम्पा निवासी श्रेष्ठी पुत्र सोण कोटिविशं बीस करोड़ का धनी था। उसके पास अस्सी गाड़ी स्वर्णमुदाएँ थीं। साकेत के सेठ धनंजय ने, अंगुत्तरनिकाय की अट्ठकथा के अनुसार अपनी पुत्री विशाखा के लिए 9 करोड़ मूल्य से महालता नामक आभूषण को बनवाया था। श्रावास्ती के प्रसिद्ध व्यापारी अनाथपिण्डिक ने जेतवन की सारी भूमि को सोने की मोहरों से किनारे से किनारा मिलाकर रोक कर जेत कुमार से उसे खरीदा था और इसमें उसकी 18 करोड़ मोहर लगी थी।[2]

बौद्ध तथा जैन काल में इन्ही 'वणिको' ने विदेशों में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के प्रचार प्रसार में बहुमूल्य योगदान दिया था। उन्होने भारतीय धर्म, दर्शन और विज्ञान से सम्बन्धित हजारों ग्रन्थों का अनुवाद कराया, जो आज भी वहां उपलब्ध है। इस काल में वैश्यों का प्रभाव इतना अधिक बढ़ा हुआ था कि राजाओं का चुनाव भी वैश्यों द्वारा किया जाता था।[3]

सम्पन्न वैश्यों का सत्कार राजाओं के द्वारा किया जाता था तथा वे उनकी कृपा और विश्वासपात्र होने का आनन्दोपभोग करते थे।[4]

इस काल में जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म के उत्थान में वैश्यों का महान योगदान रहा।[5] वैश्यों और शिल्पियों के विशाल संघ बने और वैश्यों ने भिक्षु बनकर देश विदेश में धर्म का प्रचार किया। बुद्ध के प्रथम 500 अनुयायियों में से 400 से अधिक वैश्य थे और वैश्यों ने

---

[1] जातक, भाग–1, पृ० 349
[2] गुप्ता, डा0 जगन्ननाथ, भारतीय वैश्य इतिहास के झरोखे से, पटना, 1997, पृ06
[3] गुप्त, डा0 चम्पालाल अग्रोहा एक ऐतिहासिक धरोहर, अग्रोहा, हिसार, 1996, पृ० 76
[4] बाशम, ए० एल० अदभूत भारत, आगरा, 1988, पृ0 117
[5] गुप्त, डा0 चम्पालाल अग्रोहा एक ऐतिहासिक धरोहर, अग्रोहा, हिसार, 1996, पृ० 76, बाशम, ए० एल० अदभूत भारत, आगरा, 1988, पृ0 117

भारी संख्या में तीर्थों, स्पूतों तथा मंदिरों का निर्माण कराकर अपनी दानवीरता तथा उदारता का परिचय दिया था।[1]

वैश्य साम्राज्य – वैसे तो भारतीय वैश्यों ने देश देशांतर में अपने व्यवसाय एवं उद्योग की धाक जमा कर अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की, किन्तु उनकी महत्वकांशा केवल व्यवसाय तक सीमित न रही अपितु उन्होने राजनैतिक क्षेत्र में भी अद्‌भुत प्रतिभा का परिचय दिया और अनेक राज्यों की स्थापना कर अपना बल, वैभव और पराक्रम प्रदर्शित किया।

नन्द की मां वैश्य थी और राधा यशोदा के सगे भाई वृषभानु वैश्य की पुत्री थी, इसी प्रकार कृष्ण द्वारा इन्द्र को पराजित किये जाने की गाथा वैश्यों द्वारा क्षत्रियों को परास्त करने की गाथा से जुड़ी है। महाराजा अग्रसेन पर भी इन्द्र ने आक्रमण किया था और जब युद्ध में इन्द्र अग्रसेन को परास्त न कर सका, तो उसने उनसे समझौता कर लिया था।[2]

मौर्य साम्राज्य – मौर्य साम्राज्य का संस्थापक चन्द्रगुप्त था। यह चन्द्रगुप्त कौन था? इसको लेकर इतिहासकारों ने विभिन्न मतों की कल्पना की है। कुछ इतिहासकारों के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य की माँ मुरा नामक दासी थी मुरा से ही मौर्य बना। जहां कुछ आधुनिक इतिहासकारों ने उन्हें शूद्र वंशीय घोषित किया है, वहां जैन और बौद्ध ग्रंथों में उन्हे क्षत्रिय लिखा गया है। किन्तु इतिहासकार नगेन्द्र नाथ वसु ने अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि मौर्य साम्रज्य के संस्थापक सम्राट चन्द्रगुप्त न शुद्र थे, न क्षत्रिय, अपितु वे वैश्य कुलोत्पन्न थे। उनका मत है कि पारस्कर गृह्य सूत्रों के अनुसार नाम के अन्त में गुप्त उपाधि केवल वैश्य ही धारण करते थे। 'गुप्तेति वैश्यस्ये' पारस्कर गृहसूत्र (1, 17, 4)[3] चन्द्रगुप्त के नाम में गुप्त उपाधि का होना उसके वैश्य होने का परिचायक है। मौर्य चन्द्रगुप्त ने गिरनार के प्रदेश में शासक के रूप में जिस राष्ट्रीय प्रान्तीय शासक की नियुक्ति की थी, उसका नाम वैश्य पुष्यगुप्त था। गिरनार पर्वत से मिले एक प्राचीन

---

[1] वही, पृ० 76
[2] वही, पृ० 77
[3] पारस्कर गृहसूत्र, चोकम्बा संस्कृत सीरिज बनारस, पृ० 20, भंडारी, चंद्रराज, अग्रवाल जाति का इतिहास, भाग–1,, बम्बई, 1939, पृ० 14

शिलालेख से पता चलात है कि चन्द्रगुप्त मौर्य का विवाह एक वैश्य कन्या से हुआ था और उसके वर्षे का नाम पुष्यगुप्त था, जो वैश्य वंशी था।

मौर्यस्य राज्ञः चन्द्रगुप्तस्य राष्ट्रियेण वैश्यन
पुष्यगुप्तेन करितम शोकस्य मौर्यस्य।[1] (प्रथम रूद्रदमन का जूनागढ़ लेख) 8वीं लाईन

रोमिला थापर ने सुझाव रखा है कि मौर्य नरेश वैश्य जातीय थे 150 ई0पूर्व रूद्रदमन के जूनागढ़ शिलालेख में मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त के प्रान्तीय गवर्नर वैश्य पुष्यगुप्त का उल्लेख है।[2]

जूनागढ़ अभिलेख के उक्त स्थल की व्याख्या करते हुए कीलहार्न पुष्यगुप्त को चन्द्रगुप्त का बहनोई स्वीकार करते हैं। इन विद्वानों का विचार है कि चन्द्रगुप्त द्वारा अपने साम्राज्य के पश्चिमी भाग में अपने बहनोई को अधिकारी के रूप में नियुक्त करना अस्वाभाविक नहीं है।[3]

इसी प्रकार अनेक तर्क देकर डा० नगेन्द्र नाथ वसु ने प्रमाणित किया है कि भारत वर्ष में सबसे प्रथम एकछत्र साम्राज्य स्थापित करने वाला, भारतीय इतिहास का प्रथम प्रतापी सम्राट वैश्याकुलोत्पन्न ही था।[4]

इसी वंश में बिम्बसार, सम्राट अशोक जैसे महान राजा उत्पन्न हुए, जिन्होने अपने श्रेष्ठ शासन एवं प्रजावत्सलता द्वारा भारतीय शासन में विशेष स्थान प्राप्त किया। अशोक ने स्वंय अपना विवाह विदिशा की एक वैश्य श्रेष्ठि कन्या से किया था।[5] महावंश के अनुसार जब अशोक अविन्तराष्ट्र का भोग कर रहा था तो विदिशा में उसका प्रेम श्रेष्ठि श्रीदत्त की पुत्री श्रीदेवी से हुआ था, जिससे महेन्द्र और संघमित्र का जन्म हुआ।[6]

---

[1] उपाध्याय, डा० वासुदेव, प्राचीन भारतीय अभिलेख, भाग–2, पटना 1970, पृ० 158, गुप्त, डा० रामेश्वर दयाल, वैश्य समुदाय का इतिहास पृ० 70,
[2] थापर रोमिला, अशोका एण्ड दि डेक्लाईन आफदि मौर्यज, दिल्ली, 1973, पृ० 12–13
[3] केसरवानी, डा0 प्रदीप कुमार, प्राचीन भारत में वैश्य समुदाय की स्थिति और उसकी भूमिका, इलाहाबाद, 1997, पृ० 54
[4] गुप्त, डा0 चम्पालाल अग्रोहा एक ऐतिहासिक धरोहर, अग्रोहा हिसार 1996, पृ० 77, युवा अग्रवाल, जून, 2003
[5] वही पृ० 78, दैनिक भास्कर (विविध) 17 जून, 2003, पानीपत से प्रकाशित
[6] गोयल, श्रीराम, नन्द मौर्य साम्राज्य का इतिहास, मेरठ 1988, पृ० 249, बरूआ बी0एम0, अशोका एण्ड हिज इन्सक्रीप्शन, कलकत्ता, 1995

कनेन वेदिसगिरिं नगरं मातु देविया।

सम्पत्तो मातरं पस्सि, देवी दिस्वा पियं सुतम्।।6

अवन्तिरट्ठं भुञ्जन्तोपितरा दिन्नमत्तनो।

सो असोक कुमारो हि उज्जैनीगमना पुरा।।8

वेदिसे नगरे वासं उपगन्त्वा तहिं सुभं।

देविं नाम लभित्वान कुमारिं सेट्ठिधीतरम्।।9

संवासं ताय कप्पेसि गव्यं गण्हिय तेन सा।

उज्जेनियं कुमारं तं महिन्दं जनयी सुभं।। 10

वस्तद्वयमतिक्कम्म संघामित्तञ्च धीतरं।। 11 महावंसो–13–6–11।[1]

गुप्तवंश – भारत के इतिहास में स्वर्णिम युग अंकित करने वाला गुप्त वंश भी अग्रोहा के राजवंश से है। गुप्तकाल भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग माना जाता है। वैसे तो इस काल के राजाओं की जाति को लेकर अनेक मतभेद हैं, किन्तु ऐतिहासिक प्रमाणों से पता चलता है कि गुप्तवंशी शासक वैश्य सम्राट ही थे, जैसा कि उनकी गुप्त उपाधि से ही स्पष्ट है, क्योंकि मनुस्मृति, बौधयान गृह सूत्र तथा पारस्कर – संहिता में उल्लेख मिलता है – वैश्यान्त! गुप्तेति! इस वंश के सभी राजाओं ने गुप्त उपाधि का प्रयोग कर अपना वैश्य होना प्रकट किया है।

गुप्तकुल भारत के प्राचीन राजकुलों में से एक था। शंगुकाल के प्रसिद्ध बरहुत स्तम्भ के लेख में एक राजा विशदेव का उल्लेख है, जो गोप्ति पुत्र (गुप्त कुल की स्त्री का पुत्र) था। अन्य अनेक शिलालेखों में भी गोप्ति पुत्र व्यक्तियों का उल्लेख है, जो राज्य में विविध उच्च पदों पर नियुक्त थे। इसी गुप्त कुल के एक वीर पुरुष श्रीगुप्त ने उस वंश का आरम्भ किया था।[2]

एलेन, एस.के. आयंगर, अल्तेकर,रोमिला थापर, राम शरण शर्मा, डी.एन.झा आदि [illegible] युग तक वर्णों द्वारा व्यवसायों के चयमन में

[1] [illegible] 1986, पृ० 473
[2] [illegible]

आने से वैश्य क्षत्रिय कृत्य करने लगे। स्मृतियों के अनुसार ब्राह्मण की उपाधि शर्मा, क्षत्रिय की वर्मा, वैश्य की गुप्त या भूमि और शुद्र की दास होनी चाहिए।

शर्मा देवश्च विप्रस्य वर्मा त्राता च भूभजः।
भूतिर्गुप्तश्च वैश्यस्य दासः शुद्रस्य कारयेत्।। (विष्णुपुराण 3/10/9)[1]

मंजु श्री कल्प नामक ग्रंथ में उसके वैश्य होने तथा पूना से प्राप्त ताम्रपत्र में प्रभावती गुप्त का धारण गोत्र का उल्लेख इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि वे धारण गोत्रीय अग्रवाल ही थे, क्योंकि धारण गोत्र अग्रवालों में ही मिलता है।[2] प्रभावती के पूनाताम्रपट्ट अभिलेख में निम्नांकित उल्लेख पाया जाता है।

"पृथ्व्याम्प्रतिरथःसर्वराजोच्छेता चतुरूदधिसलिलास्वादितयशा अनेक–गो–हिरण्य–कोटि –सहस्रपदः परमभागवतः महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त तस्यदुहिता धारणसगोत्रा नागकुल – संभूतायां श्री महादेव्यां कुबेरनागायामुत्पन्ना उभयकुलांकारभूता अत्यन्त भगवद्भक्ता वाकाटकानां महाराज श्री रूद्रसेनस्य अग्रमहिषी....। एपि0इण्डिया जिल्द 15,पृ041[3]

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने नागवंश की राजकुमारियों से विवाह किया। महाराजा अग्रसेन ने भी नागवंश की राजकुमारियों के साथ विवाह किया था।[4]

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की पुत्री गुप्तदुहिता – प्रभावती गुप्त का विवाह वल्लभी नरेश से हुआ था। तेन गुप्तः प्रभावती का अर्थ 1/5 गुप्त इसी के अनुरूप है।[5]

इसके अतिरिक्त गुप्त शासकों के वैवाहिक सम्बन्ध वर्द्धन और नागवंश की कन्याओं से होना, वहां के खुदाई से प्राप्त मुद्राओं पर अग्रवालों में पूज्यनीय लक्ष्मी, विष्णु, कुबेर, गरूड़ आदि के चित्र अंकित होना, उनकी दान प्रियता, उदार दृष्टिकोण, धर्म के प्रति रूचि

---

[1] पाण्डे, डा0 राजबली, प्राचीन भारत, वाराणसी, 2000, पृ० 245
[2] गुप्त, डा0 चम्पालाल अग्रोहा एक ऐतिहासिक धरोहर अग्रोहा, हिसार, 1996, पृ० 79, उपाध्याय, डा० वासुदेव, प्राचीन भारतीय अभिलेख, भाग–2,पृ०56,
[3] पाण्डे, डा0 राजबली, प्राचीन भारत, वाराणसी, 2000, पृ० 246
[4] बंसल, कैप्टन कमल किशोर, वीरता की विरासत, अग्रोहा, हिसार, 1992, पृ014
[5]

शुद्ध–सात्विक–पवित्र जीवन, भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के प्रति रूचि, लोक कल्याणकारी प्रशासन, महाराजा अग्रसेन के समान ही इस वंश के राजाओं के नागवंश के साथ वैवाहिक सम्बन्ध, उदार वादी समाजवादी परम्परा आदि से स्पष्ट होता है कि गुप्त वंशी सम्राट निश्चित रूप से वैश्य अग्रवाल ही रहे होंगे।[1] गुप्तकालीन एक लेख में वर्णन आता है कि साम्राज्य में कोई भी अति दरिद्र तथा दुखी न था –

तस्मिन्नये शासति नैव कश्चिद्धम्मदिपेतां मनुजप्रजासु।
आतों दरिद्रो व्यसनी कदमो दण्ड न वाचो भृश पीडितः स्यात
(स्कन्द गुप्त का जूनागढ़ लेख लाईन नं0 6)[2]

गुप्तकाल में समुन्द्रगुप्त की सत्ता का प्रभाव सिंहल (श्रीलंका) तक माना जाता था। हरिषेण रचित प्रयाग प्रशस्ति में सैंहलकों का गुप्त सम्राटों के लिए भेंट आदि लेकर उपस्थित होना वर्णित है। देवपुत्र शाहीशाहानुशाहीशकमुरण्डैः सैंहलक आदिभिः।

इस वंश में सम्राट चन्द्रगुप्त प्रथम – समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमार गुप्त, स्कन्द गुप्त, नृसिंह गुप्त, बुद्धगुप्त, भानुगुप्त, तथागत गुप्त, कृष्ण गुप्त, हर्ष गुप्त, जीवित गुप्त, कुमार गुप्त द्वितीय आदि अनेक गुप्त शासकों ने भारत पर शासन किया तथा विदेशी शक्तियों से लोहा लिया। धीरे–धीरे गुप्त शक्ति कमजोर पड़ती गई। और गुप्त वंश के शासन का अन्त हो गया।[3]

इस युग में विज्ञान, साहित्य कला, संस्कृति, अर्थ, धर्म, ज्योतिष आदि सभी क्षेत्रों में पर्याप्त प्रगति हुई। इसी कारण गुप्त काल को भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग कहा जाता है।

<u>वर्द्धन वंश –</u> गुप्तकाल के बाद भी अग्र/वैश्य कुल द्वारा राज्य की यह परम्परा अनवरत रूप से किसी ने किसी रूप में चलती रही। गुप्त काल के पतन के बाद 569 ई० में वर्द्धन

---

[1] गुप्त, डा0 चम्पालाल अग्रोहा एक ऐतिहासिक धरोहर, अग्रोहा, हिसार, 1996, पृ० 79
[2] उपाध्याय, डा0 वासुदेव, प्राचीन भारतीय अभिलेख, भाग –2, पटना, 1970, पृ0 157
[3] गुप्त, डा0 चम्पालाल अग्रोहा एक ऐतिहासिक धरोहर, अग्रोहा, हिसार, 1996, पृ० 80

वंश का उल्लेख मिलता है। ह्वेनसांग ने हर्ष को फी–शे या वैश्य जाति का बताया हैं।[1] वाटर्स का भी कहना है कि उसके कथनका कुछ आधार अवश्य रहा होगा। बौद्ध ग्रंथ मंजु श्री मूल कल्प के अनुसार श्री कंठ के पुण्यभूति–वंश के राजा वैश्य जाति के थे।[2]

सप्त्यष्ठौ तथा त्रीणि श्रीकण्ठावासिनस्तदा।
आदित्यनामा वैश्यास्तु स्थानमीश्वरवासिनः।। 617
भविष्यति न सन्देहो अन्ते सर्वत्र भूपतिः
हकाराख्यो नामतः प्रोक्तो सर्वभूमिनराधिपः। 618 मंजुश्रीमूलकल्प पृष्ठ45

मंजु श्री कल्प एवं अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि वर्द्धन वंशीय सम्राट गुप्त वंश के दौहित्र थे और उनका संबंध वैश्य समुदाय से था। राज गोबिन्द चन्द्र ने उन्हें धारणी गोत्रीय बताया है, जो अग्रवालों का एक गोत्र है। हर्ष चरित्र में भी बाणभट्ट ने हर्ष को वैश्य कुलोत्पन बताया है।[3]

इस काल में आदित्य वर्धन, प्रभाकर वर्द्धन, राज्य वर्द्धन, हर्ष वर्द्धन जैसे अनेक यशस्वी सम्राट हुए। इनका राज्य थानेसर में (कुरूक्षेत्र) था, जो अग्रोहा के बिलकुल समीप है। वर्द्धन राजाओं का काल 700 ई0 तक रहा।

इसका विस्तार पूर्वी पंजाब, पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा दिल्ली राज्य के कुछ भाग में था। हर्षचरित्र तृतीय उच्छ्वास, में इस जनपद की समृद्धि तथा वैभव का कथात्मक वर्णन किया गया है। बाणने इस देश में ईख, धान तथा गेहूं की खेती का भी उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त तरह–2 के द्राक्षा तथा दाड़िम के उद्यान यहां की शोभा बढ़ाते थे। वहां की धरती केलों के निकुंजों से श्यामल दिखती थी। पद–पद पर ऊँटों के झुंड थे। सहस्रो कृष्ण–मृगों से वह देश चित्र–विचित्र लगता था।

---

[1] ए0एल0 वाशम अद्भुत भारत अनुवाद वेंकेटेशचन्द, आगरा, 1988, पृ0 73, पांथरी, प्रो० भगवती प्रसाद, हर्षवर्धन–शिलाद्वित्य, बनारस, 1953, पृ० 5

[2] पांथरी, प्रो०भगवती प्रसाद,हर्षवर्धन–शिलाद्वित्य, बनारस, 1953,पृ०4,केसवानी डा0 प्रदीप, भारत में वैश्य समुदाय की स्थिति और उसकी भूमिका, पृ० 68

[3] गुप्त, डा0 चम्पालाल अग्रोहा एक ऐतिहासिक धरोहर, अग्रोहा, हिसार, 1996, पृ० 80

अन्ततः अधिकांश वैश्यों ने कृषि और पशुपालन को त्याग कर उद्योग–व्यापार को अपना लिया।[1] आर्थिक जीवन पर उनके इस एकाधिपत्य से राजनीति में भी वैश्यों का प्रभाव बढ़ गया था। स्वंय हर्ष का वैश्य होना भी उनके प्रभाव वृद्धि का एक कारण माना जा सकता है।[2]

मुगलकाल एवं अंग्रेज काल – मध्यकालीन सुल्तानों, बादशाहों और राजाओं के दरबार में वैश्य समाज के लोग सेनाओं के संचालन में भी पीछे नहीं रहे। जयपुर, जोधपुर, उदयपुर, प्रतापगढ़, बीकानेर आदि रियासतों में न जाने कितने ही अग्र/वैश्य मंत्री, मुख्यमंत्री, प्रधानमंत्री आदि बनते रहे।[3]

शेरशाह सूरी के साम्राज्य में एक छोटे से राजस्व अधिकारी के रूप में काम शुरू करके वीर हेमू ने (जिसे हेमू वक्काल भी कहा जाता है) सैन्य संचालन और नगर प्रशासन में अभूतपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया और शेरशाह के उत्तराधिकारी आदिल शाह सूरी के प्रधान सेनापति बन गए। इसी वीर वैश्य सेनापति के नेतृत्व में अफगान सेनाओं ने बीस लड़ाईयां जीती। उन्हें अपने बल–पराक्रम और पौरूष के कारण वीर विक्रमादित्य की उपाधि प्राप्त हुई तथा उन्हें सेनापति के साथ प्रधानमंत्री भी बनाया गया।

यह वही वीर हेमूशाह थे, जिनके नाम से मुगल सेनाएं कांपने लगती थी और जिन्हें मुगल सेना का काल समझा जाता था किन्तु पानीपत की दूसरी लड़ाई में आंख में तीर लगने से पासा ही पलट गया।[4]

मुगल काल में अग्रवाल वैश्य महत्वपूर्ण पदों पर थे। राज्य के अधिकांश मोदी खानों का उत्तरदायित्व उन्होने सम्भाला हुआ था। युद्ध के समय वे ही सेना को अस्त्र–शस्त्र और रसद–सामग्री पहुंचाने का कार्य करते थे। उन्हें सेना और प्रशासन दोनों में उच्च पद प्राप्त

---

[1] वही पृ० 81, कपूर यदुवन्दन, हर्ष, अलीगढ़, 1957, पृ० 222
[2] कपूर यदुवन्दन, हर्ष, अलीगढ़, 1957, पृ० 222
[3] गुप्त, डा0 चम्पालाल, अग्रोहा एक ऐतिहासिक धरोहर, अग्रोहा, हिसार, 1996, पृ० 83
[4] वही, पृ० 84

थे। आधुनिक भूमि नाप तोल – व्यवस्था के जनक टोडर मल का अकबर के नवरत्नों में विशेष स्थान था।[1]

उनके राज्य में ही अग्रवंशी मधुशाह हुए। अकबर के दरबार में इनका बहुत बड़ा प्रभाव था और सम्भवतः ये दरबार में दीवानगी के पद पर काम करते थे। इनकेनाम से चलाया हुआ मधुशाही पैसा इनके प्रभाव का परिचय देता है।[2]

लाला राम प्रताप आलीखानदान मुगल सम्राट् बादशाह अकबर के दरबार में एक ऊँचे एवं सम्मानीय पद पर कार्य करते थे। आपकी योग्यता तथा बुद्धिमता से प्रसन्न होकर अकबर ने आपको वंश परंपरा के लिए 'राय' के खिताब का शाही फरमान अदा किया। इसके अतिरिक्त शाही मुहर से एक पन्ने का बहुमूल्य कण्ठा आपको उपहार में दिया।[3]

लाला राजा राम – मुगल बादशाह अकबर के समय लाला राजा राम बड़े प्रतिष्ठित व्यक्ति हुए। उन्हें मुगल सल्तनत की ओर से सहारनपुर में एक मण्डी बनवाने के लिए नियुक्त किया गया। आपने यह कार्य बड़ी सफलता से पूरा किया। इस कार्य के फलस्वरूप आपको गोलरा में एक जागीर दी गई। शाहजहाँके समय आपके परिवार ने बड़ी उन्नति की। 1825 में आपके वंशज लाला सालिगराम को ब्रिटिश सरकार ने दिल्ली में सरकारी खजांची के महत्वपूर्ण पद पर नियुक्त किया।[4]

राय राम प्रताप के वंशज राय इन्द्रभान शाहजहां के काल में दीवान के महत्वपूर्ण पद पर नियुक्त हुए थे।

राय ख्यालीराम बहादुर ने ब्रिटिश सरकार का पक्ष लेकर उनका विश्वास प्राप्त कर लिया जिसके परिणामस्वरूप उन्हें बिहार के डिप्टी गवर्नर का सम्मानीय पद प्राप्त हुआ। लार्ड क्लाईव के समय आपको राजा बहादुर का सम्मानीय खिताब प्राप्त हुआ। सरकारी रिकार्ड में आपके सम्बन्ध में जो विवरण हैं उससे पता लगता है कि आप अपने समय में

---

[1] वही, पृ० 82
[2] भंडारी, चन्द्रराज, अग्रवाल जाति का इतिहास, भाग–2, बम्बई 1939, पृ० 59
[3] वही, पृ० 59
[4] विद्याअलंकार, डा0 सत्यकेतु, अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास, बम्बई, 1938, पृ० 240–41

बड़े शक्तिशाली, प्रभावशाली और प्रतिष्ठासम्पन्न पुरूष थे। आपको ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने पटना का दीवान बनाया था।[1]

राजा पटनीमल बहादुर – 1803 में वैलजली के साथ अवध के राजा, गोहद के महाराजा तथा ग्वालियर के महाराजा के साथ जो सन्धियाँ हुई थी उसमें आपने बहुत बुद्धिमानी और दिलचस्पी के साथ भाग लिया था। इसके धन्यवाद स्वरूप ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने आपको पंचहजारी मनसब और अतर परगने में एक गाँव जागीर में दिलवाया। जब अवध नरेश और कम्पनी के बीच सीमा मामलों का निपटारा हो रहा था उस समय एक कमीशन नियुक्त हुआ जिसके आप दिवान थे। इस कार्य की सरकार ने बहुत प्रशंसा की तथा इसके उपलक्ष्य में 1831 में आपको राजा बहादुर का खिताब दिया गया।[2]

शाह गोविन्दचन्द – आप अवध दरबार के राज्य जौहरी थे। अवध दरबार का प्रसिद्ध मयूर सिंहासन आपके द्वारा ही बनाया गया था। अवध दरबार ने आपके कार्यों से प्रसन्न होकर आपको खिल्लत और परंपरा के लिए शाह का खिताब प्रदान किया था।[3]

मुगल सम्राट फरूखसियर के शासनकाल में जानसठ के निवासी राजा रतन चन्द्र अग्रवाल अत्यन्त प्रभावी मनसबदार थे। वे सैय्यद बन्धुओं के घनिष्ठ मित्र थे। उन्होने सैय्यद बंधुओं के साथ मुगल साम्राज्य के संचालन में महत्वपूर्ण योगदान दिया था।[4] सारा राज कार्य आपके आधीन था। आपको मुगल बादशाह की तरफ से राजा की पदवी और दरबार में दो हजारी का मनसब दिया हुआ था। फरूखसियर के समय में हिन्दुओं पर जजिया कर पुनः लागू कर दिया गया था। इस पर आप बड़े असंतुष्ट हुए। आपके निरन्तर प्रयासों के परिणामस्वरूप आपको बड़ी सफलता मिली । सन् 1719 में फरूखसियर के पतन के बाद जब रफी उद्दरजात मुगल बादशाह बना तो आपके प्रयत्नों से जजिया

---

[1] भंडारी, चंद्रराज, अग्रवाल जाति का इतिहास, भाग–2, बम्बई, 1939, पृ० 59
[2] वही, पृ० 59–60
[3] वही, पृ० 61
[4] गुप्त, डा0 चम्पालाल अग्रोहा एक ऐतिहासिक धरोहर, अग्रोहा, हिसार, 1996, पृ० 82

कर हटा दिया गया। मुगल शासन में आपका प्रभाव इतना अधिक बढ़ गया था कि किसी भी सरकारी पद पर होने वाली नियुक्ति को आप रोक सकते थे।[1]

लाला हट्टी राम जी जींद स्टेट में दीवान रहे। इनका वहां बहुत प्रभाव था। बाद में इनका खानदान तोपखाना वाला के नाम से विख्यात हुआ।[2] आपके पुत्र लाला डुंगरमल जी और लाला नरसिंह जी हुए। इन दोनों भाईयों ने भी जींद स्टेट की दीवानी के पद पर कार्य किया। दीवान नरसिंह के पुत्र दीवान जयसिंह थे जो पहले जींद में दीवान थे और फिर दिल्ली आकर शाह आलम के शासन काल में तोपखाने के अफसर नियुक्त हुए। इसी कारण इस खानदान का नाम तोपखाने वाला पड़ा।[3]

लाला सीताराम – आप भी मुगलकाल में बड़े महत्वपूर्ण व्यक्ति थे। मुगलकाल में आप खजांची के पद पर नियुक्त थे। दिल्ली का वर्तमान सीताराम बाजार आपकी जीती–जागती स्मृति है।[4]

मुगल सम्राट शाह आलम के शासन काल में राजा कली राम बिहार सूबे के नायक दीवान थे। ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने उन्हें राजा बहादुर की उपाधि प्रदान की थी। इसी समय दिल्ली के जय सिंह अग्रवाल दीवान के प्राशासनिक पद पर नियुक्त थे। सम्राट शाह आलम ने उन्हें शाही तोपखाने का हाकिम बनाया था।[5] दिवान जयसिंह अग्रवाल तथा उसके वंशजों का मुगलों के तोपखाने का अफसर होना सूचित करता है, कि उस काल में अग्रवाल लोग सैनिक सेवा से संकोच नहीं करते थे, और अपनी योग्यता के आधार पर वे सेना में उच्च पद प्राप्त कर सकते थे।[6]

सिक्ख राज्य पटियाला की गद्दी पर जब 1765 में अमर सिंह आसीन हुए, तो उन्होंने लाला नन्नू मल को अपना दीवान नियुक्त किया था। राजा अमरसिंहके युद्धों में दीवान नन्नू मल ने बड़ा महत्वपूर्ण भाग लिया। राजा अमरसिंह अपने समीपवर्ती मुगलदुर्गों

---

[1] विद्याअलंकार, डा0 सत्यकेतु, अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास, बम्बई, 1938, पृ० 240–41
[2] गुप्त, डा0 चम्पालाल अग्रोहा एक ऐतिहासिक धरोहर, अग्रोहा, हिसार, 1996, पृ० 83
[3] विद्याअलंकार, डा0 सत्यकेतु, अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास, बम्बई, 1938, पृ० 240–41
[4] वही, पृ० 244
[5] गुप्त, डा0चम्पालाल, अग्रोहा एक ऐतिहासिक धरोहर, अग्रोहा, हिसार, 1996, , पृ० 83
[6] विद्याअलंकार, डा0 सत्यकेतु, अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास, बम्बई, 1938, पृ० 241–42

को जीत कर उन पर अपना अधिकार स्थापित कर रहा था। फतेहाबाद और सिरसा पर अधिकार कर चुका था। रतिया पर उसने हमला कर दिया था। इसी बीच दिल्ली के मुगल सम्राट की आज्ञा से हांसी के सूबेदार रहीमदादखान ने जींद पर हमला किया। राजा अमरसिंह ने जींद की रक्षा के लिए दीवान नन्नूमल को भेजा। नन्नूमल ने कैथल और जींद की सेनाओं के साथ बड़ी सफलता से सम्बन्ध स्थापित किया और तीनों सेनाओं (जींद, कैथल और पटियाला) ने मिलकर वीरता के साथ मुगलसेना का मुकाबला किया और मुगल सेना को परास्त किया।

इसके बाद दीवान नन्नूमल ने हांसी और हिसार पर हमला किया। इन दोनों जिलों की मुगल सेनाओं को परास्त कर पटियाला का आधिपत्य स्थापित किया। 1781 में राजा अमरसिंह की मृत्यु हो गई और रानी ने आपको प्रधानमंत्री नियुक्त किया। आपके गद्दी पर बैठते ही चारों तरफ विद्रोह आरम्भ हो गया। आपने विद्रोह का बड़ी सफलतापूर्वक दमन किया।[1]

लाला हरसुखराय – मुगल बादशाह शाह आलम के समय में लाला हरसुखराय बड़े प्रतापी महानुभाव हुए। आपने शाह आलम की अव्यवस्था को देखते हुए ब्रिटिश सरकार की सहायता की। आपने दिल्ली का प्रसिद्ध जैन मन्दिर बनवाया जिस पर लगभग 8 लाख रू0 खर्च हुए। आपके पुत्र लाला शुगनचंद को अंग्रेजों से तीन गांवों की जागीर मिली।[2]

इस युग में लाला बाढ़ोमल–गुड़वाला, सेठ पतराम दास–भिवानी, बाबू मनोहर दास शाह–बनारस, लाला पीरूमल–इलाहाबाद, दीवान परतीराम तथा दीवान जापोराय, राजा शिव प्रसाद बहादुर–बिजनौर, लाला फतेहचन्द–सिरसा, राय ख्याली राम बहादुर, राजा पटनी मल बहादुर, लाला अमी चन्द शाह, गोबिन्द चन्द दीवान, दलपतराय कानूनगो आदि अनेक विभूतियां हुईं।[3]

सेठ पतराम दास–भिवानी अपने समय के सुप्रसिद्ध व्यापारी थे। उस समय जबकि आवागमन के साधनों का अभाव था, देश के कोने–कोने में आपकी 52 कोठियां फैली हुई

---
1. वही, पृ० 231–32
2. वही, पृ० 242–43
3. प्रो. डा० [illegible] एवं ऐतिहासिक धरोहर, अग्रोहा, हिसार, 1996, पृ० 83

थी। आप ने ही संवत् 1874 में भिवानी मण्डी की नींव डाली थी। आज भी भिवानी में इनके नाम से पतरामदास बाजार और पतरामदास बारद विद्यमान हैं।[1]

लाला फतेहचनद का परिवार सिरसा का प्रसिद्ध खानदानी परिवार था। आपने सिरसा को आबाद करने में विशेष योग दिया था। इन्हें इसकी प्रतिष्ठा के अनुरूप खजांची पद पर नियुक्त किया गया और आप का परिवार खजांची वालों के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इनके पुत्र श्री राम सुख दास ने भी पर्याप्त प्रतिष्ठा अर्जित की।[2]

इस समाज के लोगों का विशिष्ट प्रभाव ही था कि कट्टर मुस्लिम शासकों को भी उन्हें अपने राज्य में उच्च पदों पर नियुक्त करना पड़ा। परिणाम स्वरूप कट्टर विधर्मियों के शासन में भी हिन्दुओं पर विशेष आंच न आ पाई।[3]

अंग्रेजी शासन काल में भी अनेक अग्रवालों ने विभिन्न क्षेत्रों में पर्याप्त प्रतिष्ठा अर्जित करने के साथ ही साथ अपार वैभव का अर्जन किया था। ऐसे व्यक्तियों में पटना और बनारस के राय गोविन्द एवं उनके यशस्वी पुत्र पटनीमल, बंगाल के सेठ अमीचन्द, दिल्ली के लाला सालिग राम खजांची, लाला हरसुख राय जैन, मेरठ के लाला दलपतराय, लखनऊ के शाह गोविन्द चन्द्र तथा शाह कुन्दन लाल आदि नामों का उल्लेख ही पर्याप्त है।[4]

लाला अमीचन्द मुगल साम्राज्य के पतन के साथ ही बंगाल के प्रसिद्ध प्रतिष्ठित सेठों में थे। इनका दिल्ली दरबार से गहरा सम्बन्ध था। इन्होने व्यापार द्वारा इतनी सम्पति अर्जित कर ली थी कि अंग्रेज व्यापारी भी इनसे ऋण लेकर बंगाल में अपना व्यापार करते थे।[5]

इस काल में उनकी दोहरी भूमिका रही। अंग्रेजी साम्राज्य के प्रारम्भ में जहां वैश्य/अग्रवालों ने अपने कौशल से अंग्रेजी कम्पनियों में अपना व्यापारिक कौशल को प्रकट

---

[1] वही, पृ० 83
[2] वही, पृ० 83
[3] वही, पृ० 83
[4] वही, पृ० 84
[5] वही,, पृ० 84

किया, वहां राष्ट्रीय हित का प्रश्न आने पर उन्होंने उनका विरोध करने में भी संकोच नहीं किया।[1]

राजनैतिक जागरण एवं विकास

पाश्चात्य शिक्षा –

19वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध व 20वीं शताब्दी का प्रारम्भिक काल भारत. के इतिहास में राजनैतिक जागरण का युग माना जाता है। इस राष्ट्रव्यापी नवजागरण का प्रभाव हरियाणा पर भी पड़ा। हरियाणा में राजनीतिक जागृति लाने के लिए अनेक कारण थे। दुर्भाग्यवश हरियाणा में पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार अन्य प्रदेशों की अपेक्षा बहुत विलम्ब से हुआ। सन् 1870 से पहले तो यहां पश्चिमी शिक्षा देने वालो कालेजों की बात तो दूर, स्कूलों की व्यवस्था भी अत्यन्त असंतोषजनक थी।

तालिका[2]

हरियाणा में स्कूलों की संख्या

जिला	क्षेत्रफल वर्गमील	जनसंख्या	हाईस्कूलों की संख्या	मिडिल स्कूलों की संख्या	मिडिलस्कूल से नीचे	प्राईमरीस्कूलों की संख्या
अम्बाला	1210	422428	9	3	4	92
करनाल	3146	828726	7	2	17	144
गुड़गांव	2217	682003	4	–	10	188
रोहतक	2246	772272	7	4	17	219
हिसार	5185	816810	4	1	29	184
कुल	14004	3522239	31	10	77	827

[1] वही, पृ० 85
[2] चन्द्र जगदीश, फ्रीडम स्ट्रगल इन हरियाणा, कुरूक्षेत्र, 1982, पृ० 7

भाग्यवश 1870 के पश्चात सरकार का ध्यान इस अभाव की ओर आकृष्ट हुआ और अगले तीस वर्षो में यहां लगभग हर 10 वर्गमील के क्षेत्र में एक स्कूल खोला गया। जैसा निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है।[1]

तालिका[2]

स्कूली शिक्षा का विस्तार 1870–1901

जिला	वर्ष	स्कूल	प्रत्येक स्कूल द्वारा आच्छादित (वर्गमील)	जिलेमें स्कूल जाने वाले योग्य विद्यार्थी	स्कूल में जाने वाले विद्यार्थी
अम्बाला	1870–71	73	–	86290	4929
	1880–81	97	9	72092	8316
	1890–91	–	–	–	–
	1900–01	180	10	67994	9133
करनाल	1870–71	52	–	50910	1399
	1880–81	42	75	68337	2694
	1890–91	69	46	71763	2483
रोहतक	1870–71	34	–	44743	1791
	1880–81	40	45	46134	3562
	1890–91	82	22	49206	3386
	1900–01	98	18	52556	5097
हिसार	1870–71	27	–	57956	5097
	1880–81	51	102	56047	4186
	1890–91	112	46	65667	3636
	1900–01	105	49	65143	5085

[1] यादव, के० सी० हरियाणा का इतिहास एवं संस्कृति भाग 2, नई दिल्ली, 1994, पृ० 157–59
[2] वही, पृ० 157

गुड़गांवा	1870–71	34	–	5854	2224
	1880–81	82	24	53487	3807
	1890–91	116	17	55744	4693
	1900–01	128	15	62184	5136

किन्तु जहां तक कालेजों का प्रश्न है, यह अभाव अब भी पूर्ववत् बना रहा। इस क्षेत्र में पहला कालेज जो इंटर मिडिएट स्तर का था रोहतक के स्थान पर 1926 में स्थापित हुआ। इस क्षेत्र के मेधावी छात्रों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए दिल्ली अथवा लाहौर जाना पड़ता था।[1]

प्रैस व साहित्य –

उच्च शिक्षा की कमी से जहां 19वीं सदी के अन्तिम दिनों तक नव साहित्य के नाम पर जो सृजन हुआ वह न के बराबर था और यही हालत समाचार–पत्रों की थी। प्रैस का अभी विकास होना था। आरम्भिक 20 वर्षों में इस क्षेत्र में केवल कुछ ही समाचार पत्र थे। अधिकांश उर्दू और हिन्दी के साप्ताहिक और रिवाड़ी का सादिदक–उल–अकबर उर्दू का मासिक धार्मिक अखबार, गुड़गांवा से ज्योतिष अखबार जिस का नाम ज्यातिष मन्त्र, ओर कुछ जाति समूहों के जैसे रिवाडी से अहीर पत्रिका, रोहतक से जाट गजट, जाट सिपाही, हिसार से ठाकुर पत्रिका और जगाधरी से ब्राह्मण समाचार, आदि समाचार–पत्र सम्मानजनक प्रकाशन में थे।[2] इस काल में झज्जर से पं० दीनदयाल शर्मा ने 'हरियाणा' और 'रिफाए–आम' नामक समाचार–पत्र निकाले थे। 1889 में अम्बाला से 'खैर अंदेश' निकाला।[3]

यहां के एक सरस्वती पुत्र बाबू बालमुकुन्द गुप्त (गुडयाणी) (1764–1907) ने अकेले ही सैकड़ों लोगों से भी अधिक कुछ कर दिखाया। बाबू बालमुकुन्द जी ने उस काल में

---

[1] मित्तल, एस० सी० हरियाणा, ए हिस्टोरिकल प्रोस्पैक्टिव, नई दिल्ली, 1986, पृ0 83
[2] चन्द्र जगदीश, फ्रीडम स्ट्रगल इन हरियाणा, कुरूक्षेत्र, 1982, पृ० 9
[3] यादव, के० सी० हरियाणा का इतिहास एवं संस्कृति भाग 2, दिल्ली, 1994, पृ० 158

शोषणकारी ओपनिवेशिक अग्रेंजी राज्य द्वारा जो देश की दुर्दशा हो रही थी उस का इतना मार्मिक और सजीव चित्रण अपनी कविताओं के माध्यम से किया है उतना शायद उनसे पहले किसी की रचनाओं में नहीं हुआ। बाबु बालमुकुन्द ने अपनी सशक्त रचनाओं के माध्यम से अग्रेजी राज्यों के प्रति रोष पैदा किया देशवासियों को उन्होंने उनकी कमियां दर्शायी, उनमें राजनैतिक जागृति पैदा की और उन्हें राष्ट्रीय जन आन्दोलन के लिए तैयार किया।[1]

भारत मित्र, राजनैतिक पत्र था। गुप्त जी ने उसमें नयी उमंग और नये उत्साह का संचार किया। कांग्रेस की स्थापना के समय उनका पत्रकार–जीवन आरम्भ हुआ था। लार्ड डफरिंन, लैन्सडाउन, एलगिन (द्वितीय) , कर्जन और मिंटो तक के बड़े लाटों के शासन समय उन्होंने अपनी आँखों देखा था। देश वासियों की अभाव–अभियोगमूलक कष्ट–कथाओं, मांगों और आकांक्षाओं को निर्भिकता के साथ प्रकट करने की निपुणता में वे अद्वितीय थे। देशवासियों के स्वाभिमान तथा स्वदेशानुराग को जगाकर उनमें देशभक्ति की भावना भरने के कार्य में गुप्त जी की लेखनी का चमत्कार अतुलनीय है। उस समय के लिखे उनके लेखों और कविताओं में भारत के स्वाधीनता प्राप्ति आन्दोलन के प्रारम्भिक काल का इतिहास सन्निविष्ट है।[2]

लार्ड कर्जन की करतूत दिखाने को गुप्त जी ने शिव शंभू के चिट्ठों के सिवाय कितने ही लेख और कविताएँ लिखीं। कर्जनशाही शीर्षक अपने लेख में उन्होंने लार्ड कर्जन के शासनकाल का सिंहावलोकन करते हुए कहा है अहंकार आत्मश्लाघा जिद और गाल बजाई में लार्ड कर्जन अपने सामीआप निकले.....। लार्ड कर्जन ने लिटन की सब बदनामी धो दी। अपने से पहले के सब लाटों को उन्होंने भला कहला दिया.....। इसके बाद गुप्त जी ने लार्ड कर्जन के भारत हित विरोधी मुख्य–2 कामों को एक–एक करके गिनाया और देशवासियों को उनके आत्मगौरव का ध्यान दिलाया।[3]

---

[1] वही, पृ० 158
[2] बाबू बाल मुकुंद गुप्त स्मारक ग्रंथ, कलकत्ता, 1950, पृ० 136
[3] वही, पृ० 137–38

बंगाल विभाजन का परिणाम विदेशी सरकार पर स्वदेशी आंदोलन के कारण अच्छा नहीं हुआ। विदेशी कपड़े के बहिष्कार के कारण विदेशी व्यापार को बड़ा धक्का लगा। कर्जनाना नामक कविता में उन्होंने कर्जन से कहलाया है –

किसने मनचैस्टर को सड़कों सड़कों पर टकराया
किसने मलमल औ कपड़ों को आँधी में उड़वाया?
"किया है मैंने" बोले कर्जन रेज करेगी चेम्बर
भूत भरें इसका हरजाना जब पहुँचू अपने घर ।[1]

किसी भी समाचार पत्र या पत्रिका की राजनीतिक पृष्ठभूमि नहीं थी। इस शक्तिशाली यत्रं के अभाव में जनता की विचारधारा प्रत्यक्ष रूप से नहीं ढल सकी। शिक्षित लोग, विशेषकर शहरी (जो कुल जनसख्या का एक प्रतिशत) कुछ पत्रों को जैसे हिन्दुस्तान, सुदर्शन, कोहिनूर, भारत मित्र आदि को चंदा देता था।[2]

मध्यम वर्ग –

मध्य वर्ग ने आलोच्य काल में राष्ट्रीय चेतना की अभिवृद्धि में अति महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अम्बाला के कुछ मध्य वर्गीय नेताओं जैसे मुरलीधर माधोराम आदि ने यहां जनचेतना लाने के लिए कुछ संस्थाओं का भी संगठन किया जैसे हिन्दू सभा, रिफाए–आम, इंडियन ऐसोसिएशन आदि। इन संस्थाओं में पहली दो तो नितांत स्थानीय थी। किन्तु तीसरी राष्ट्रीय स्तर की थी। लाला मुरलीधर ने अम्बाला में इसकी 1884 में एक सभा भी करवाई थी, जिसमें सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी व अन्य राष्ट्रीय नेताओं ने राष्ट्रीय मामलों पर बड़े ओजस्वी भाषण दिए। इस जलसे में इण्डियन सिविल सर्विस के लिए उम्र बढ़ाने का प्रस्ताव भी किया गया। बहुत से लोगों ने राष्ट्रीय कोष के लिए मुक्त हस्त से दान भी दिया। जिस का स्थानीय डिप्टी कमिशनर तथा अफसरशाही ने बुरा माना। उन्होंने कई लोगों को इसके

[1] वही, पृ० 380
[2] चन्द्र जगदीश, फ्रीडम स्ट्रगल इन हरियाणा, कुरूक्षेत्र, 1982, पृ० 9

लिए बुरा–भला भी कहा, जिसकी गूंज सारे देश में हुई और हिन्दू, इंडियन मिरर, पैटियार, स्टेट्स–मैन आदि समाचार पत्रों ने खूब आलोचना की।[1]

उपर्युक्त घटना से पता चलता है कि चाहे छोटे स्तर पर ही सही हरियाणा के नगरों में इस समय राजनैतिक चेतना के लक्षण पैदा हो गए थे।

आर्य समाज का योगदान –

यहां के पिछड़े हुए ग्रामों में बसने वाले लोगों में पहले–पहल चेतना लाने का श्रेय आर्य समाज को है। इस संस्था की स्थापना 10 अप्रैल 1875 को स्वामी दयानन्द सरस्वती जी द्वारा बम्बई में हुई थी। वे एक महान देशभक्त थे जो भारत को अविलम्ब स्वतंत्र देखना चाहते थे। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'सत्यार्थ–प्रकाश' में देशवासियों को सबसे पहले 'स्वराज्य' का नारा दिया था। उनका कहना था कि विदेशी राज्य कितना ही अच्छा क्यों न हो, वह स्वराज्य की बराबरी नहीं कर सकता। उन्होंने अपने ग्रंथ 'आर्याभि विनय' में अपने अनुयायियों से कहा कि प्रत्येक आर्य का कर्तव्य है कि अपने देश के उत्थान के लिए और स्वराज्य के लिए प्रयत्न करें।[2]

स्वामी दयानन्द जी 1880 में हरियाणा में आए थे। उन्होंने रिवाड़ी में आर्य समाज की शाखा भी स्थापित की। थोड़े समय बाद रोहतक में भी आर्य समाज की शाखा स्थापित हो गई। हरियाणा में आर्य समाज को बढ़ाने का श्रेय लाला लाजपतराय को जाता है। उनका सार्वजनिक जीवन हरियाणा से ही शुरू हुआ। यहीं पर उन्होंने राष्ट्रीयता का प्रथम पाठ सीखा। रोहतक में आर्य समाज की स्थापना तो इनके आने से पूर्व ही हो गई थी, किन्तु यहां कार्य नहीं के बराबर हो रहा था। लाला जी ने मंत्री बनकर आर्य समाज में नए प्राण फूंके। चौ० पीरू सिंह, चौ० मातू राम, चौ० रणपत सिंह आदि स्थानीय नेताओं ने इस कार्य में उनका साथ दिया। आर्य समाज के प्रचारक दूर–दूर तक गांवों में जाकर सामाजिक कुरीतियों के विरूद्ध प्रचार करने लगे। उन्होंने देशभक्ति के मनोहर व्याख्यान देकर यहां

[1] यादव, के० सी० हरियाणा का इतिहास एवं संस्कृति भाग 2, दिल्ली, 1994, पृ० 161
[2] वही, पृ० 162

राजनैतिक जागरण की पृष्ठभूमि तैयार की। शीघ्र ही रोहतक जिले के लोगों में नवजागरण के लक्षण दिखाई देने लगे।[1]

1886 में लाला जी हिसार चले गए। वहां पहुंचते ही युवक वकील ने आर्य समाज की स्थापना की। इस कार्य में लाजपत राय, चूडामणी वकील और चन्दूलाल, हीरालाल आदि सेठों ने उनका विशेष सहयोग दिया।[2] सामाजिक धार्मिक कार्य के साथ आर्य समाज के माध्यम से लाजपतराय ने हिसार में राजनैतिक नवचेतना के बीज भी बोए। हिसार की जनता में लाला जी के प्रयत्नों से राजनैतिक चेतना आ गई।[3]

आर्य समाज की सभायें धार्मिक होते हुए भी अप्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक होती थी। इसे एक जन आन्दोलन बनाने के लिए समाज के कार्यकर्ताओं ने प्रभात फेरियों को आरम्भ किया और समूह में गीत गाकर अपना संदेश लोगों को दिया। हरियाणवी जनता में राष्ट्रीय भावना और राजनीतिक चेतना पैदा करने में आर्य समाज के मुकाबले कोई नहीं था।[4]

हिसार के डिप्टी कमिशनर ने कुछ लोगों के साथ दुर्व्यवहार किया। लाला चन्दू लाल आदि ने डिप्टी कमिशनर का विरोध किया और सारे शहर में लाला जी के संकेत पर पूर्ण हड़ताल हो गई।[5]

हिसार तथा रोहतक के देहात में राम जी लाल (सांफी ग्राम) रोहतक के एक डाक्टर ने राजनैतिक चेतना लाने में विशेष योगदान दिया। हिसार तथा रोहतक के अतिरिक्त, इस काल में आर्य समाज का प्रचार अन्य जिलों में भी हुआ। अम्बाला, करनाल और गुड़गावां के शहरों और अन्य कस्बों में शताब्दी के अन्त तक आर्य समाज के केन्द्र स्थापित हो गए जैसा इस तालिक से स्पष्ट है।[6]

हरियाणा में आर्य समाज

---

[1] वही, पृ० 136, यादव के.सी. हरियाणा इतिहास एवं संस्कृति, पृ0 163

1994, पृ० 163

1985, पृ० 11,

1994, पृ० 164

स्थापना तिथि	शहर / गांव	सदस्य संख्या
1880	रेवाड़ी	21
1885	रोहतक	10
1886	हिसार	59
1889	हांसी	12
1890	भिवानी	36
–	हथीन गुड़गांवा	5
–	अम्बाला शहर	14
1891	झज्जर	13
1892	सिरसा	21
1893	शाहबाद (कुरूक्षेत्र)	19
1894	थानेसर	15
1896	बल्लभगढ (फरीदाबाद)	10
1897	कोसली रेवाड़ी	10
1900	लाडवा (कुरूक्षेत्र)	8
	कैथल (कुरूक्षेत्र)	30
	पुंडरी (कुरूक्षेत्र)	20

<u>सनातन धर्मसभा –</u> आर्य समाज के आन्दोलन से प्रभावित होकर हरियाणा के रूढ़िवादी हिन्दुओं ने सनातन धर्म सभा का गठन किया। इस आन्दोलन के नेता पं० दीन दयालु शर्मा थे। झज्जर में पहली सनातन धर्म सभा बनाई। झज्जर से भिवानी सनातन धर्म सभा का केन्द्र बना। भिवानी से प्रभाव हिसार में पहुंचा। वहां 1891 में विधिवत सनातन धर्म सभा का गठन हुआ। लगभग इन्हीं दिनों सिरसा में भी सभा की स्थापना हुई। 1892 के अन्त में करनाल भी सभा का केन्द्र बना। इसी क्रम में कुरूक्षेत्र में भी सभा स्थापित हुई। 1895 के आसपास सफीदों, रिवाड़ी, पलवल, कैथल, पानीपत, रोहतक, बेरी और गुड़गांव में भी सभाएं

बनी। इस के बाद धीरे–धीरे हरियाणा के हर बड़े–छोंटे गांव में भी सनातन धर्म सभाओं की स्थापना हुई जिसके माध्यम से सनातन धर्म का बहुत प्रचार हुआ।[1]

सनातन धर्म आन्दोलन से हरियाणा की प्रजा का सनातन धर्म से जो विश्वास उठ गया था, उसकी पुनः स्थापना तो हुई ही इसके अतिरिक्त उस वर्ग ने जो आर्य समाज से प्रभावित नहीं था आधुनिक चेतना भी जागृत हुई। सनातन धर्म सभा के प्रचार से सामाजिक, धार्मिक कुरीतियां भी बहुत कुछ दूर हो गई। इसके अतिरिक्त सनातन धर्म आन्दोलन के कई नेताओं ने राजनैतिक चेतना लाने के लिए भी यथाशक्ति बहुत प्रयत्न किए। और वे एक सीमा तक सफल भी रहे।[2]

मुस्लिम संस्थाएं – हिन्दुओं की भांति मुसलमानों में भी इस काल में कई संस्थाएं बनी, जिनका उद्देश्य सामाजिक, धार्मिक उत्थान था, पर अपने उद्देश्य प्राप्ति के लिए जो प्रयत्न इन संस्थाओं ने किए उससे यहां की मुस्लिम जनता में राजनैतिक चेतना भी जागृत हुई।

यह निम्नलिखित तालिका दृष्टथ है ।

तालिका

मुस्लिम संस्थाएं

नाम संस्था	शहर / गांव	स्थापना तिथि	सदस्यों की संख्या
अंजुमन इथना अशहर	अम्बाला	1876	10
सैंट्रल नेशनल मुहम्मडन ऐसोसिएशन	अम्बाला	1886	90
–	हिसार	1888	50
अंजुमन रिफाए–आम	अम्बाला	1884	19
अंजुमन इस्लामिया	अम्बाला	1888	45
–	झज्जर	1888	17

[1] वही, पृ० 165
[2] वही, पृ० 166–167

–	हिसार	1888	29
–	सोहना	1888	13

सैंट्रल नेशनल मुहम्मडन ऐसोशिएसन, सबसे अधिक शक्तिशाली संस्था थी। इसके सक्रिय सदस्य हरियाणा के लगभग सभी शहर और महत्वपूर्ण मुस्लिम गांवों में थे, पर उनकी संख्या पर्याप्त कम थी। फिर भी इस संस्था के प्रचारकों ने मुसलमानों में पर्याप्त चेतना पैदा की।

हिन्दू संस्थाओं की तुलना में मुसलमान संस्थाएं हमारे अध्यनाधीन काल में बहुत दुर्बल थी। अतः यहां की मुस्लिम जनता 19वीं शताब्दी में राजनैतिक रूप से जागृत और संगठित हो सकी।[1]

<u>सिक्ख संस्थाएं –</u> मुसलमानों की तरह हरियाणा में भी सिक्ख भी राजनैतिक रूप से बहुत समय तक अचेतन अवस्था में ही रही। 1880 में राजनैतिक रूप से उन्हें सजग करने में सिंहसभा ने महत्वपूवर्ण कार्य किया। इस सभा का उददेश्य सिक्ख धर्म में पुरातन शुद्धता को पुनस्थापित करना, पंथ का प्रचार–प्रसार करना, सिक्खों में आधुनिक शिक्षा का प्रचार करना था। इससे सिक्खों में धार्मिक नवचेतना के अतिरिक्त राजनैतिक चेतना भी जागृत हुई।

हरियाणा में सिंहसभा आन्दोलन अम्बाला से प्रारम्भ होकर शनैः शनैः समस्त सिक्ख बहुल क्षेत्र में फैला। जैसा निम्न तालिका में प्रदर्शित है।

तालिका[1]

हरियाणा में सिंह सभा का प्रचार

स्थापना तिथि	शहर / गांव	सदस्य संख्या
1886	अम्बाला शहर	10
1888	अम्बाला छावनी	25
1890	थानेसर	5
1899	कैथल	6

सिक्ख अल्पसंख्यक थे। उन्होंने स्वंय को सिंह सभा द्वारा सामाजिक शैक्षणिक कार्यों में व्यस्त रखा।[2]

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि हरियाणा में मध्यकालीन काल में मुसलमानों और सिक्खों में जागरण के लक्षण पैदा करने वाली संस्थाएं सबल नहीं थी। हां हिन्दुओं में स्थिति भिन्न थी वहां आर्य समाज, सनातन धर्म सभा ने बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया।[3]

इन गतिविधियों का प्रभाव यह हुआ कि इस हिन्दू बाहुल्य क्षेत्र में अल्पकाल में ही यहां के प्रत्येक स्थान पर लोगों में जीवन के प्रति कुछ उत्साह दिखाई पड़ने लगा। कुछ शिक्षा का प्रसार हुआ और आत्मगौरव की भावना बढ़ी। वस्तुतः इस प्रकार भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन के लिए यहां दृढ़ पृष्ठभूमि तैयार हो गई।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना –

1850 के बाद लोगों में जागृति के अनेक कारण थे। वास्तव में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, जिसके ध्वज के नीचे स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ी गई, इसका परिणाम थी।[4]

---

[1] वही, पृ० 168

[2] मित्तल, एस० सी० हरियाणा, ए हिस्टोरिकल प्रोस्पैक्टिव, नई दिल्ली, 1986, पृ0 83

[3] यादव, के० सी०, हरियाणा का इतिहास एवं संस्कृति, भाग 2, दिल्ली, 1994, पृ० 169

[4] मित्तल, एस० सी० हरियाणा, ए हिस्टोरिकल प्रोस्पैक्टिव, नई दिल्ली, 1986, पृ0 79

भारत में कांग्रेस की स्थापना निश्चित रूप से भारत के राजनैतिक इतिहास में महत्वपूर्ण घटना थी। इसकी स्थापना के सम्बन्ध में प्रारम्भ से ही विभिन्न लेखकों ने विभिन्न मत प्रकट किए गए हैं। उदाहरण के लिए कुछ ने इसे परिस्थितियों का परिणाम बताया जो राजाराम मोहन राय के भारत में काम करने के बाद पैदा हुई थी। कुछ अन्य लोगों ने इसे रूस का डर कहा, कुछ ने इसे थोपा हुआ अहानिकारक निष्ठावान राजनैतिक संगठन बताया जो ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा के लिए तैयार किया गया, सुरक्षा वाल्व बताया। दूसरों ने विभिन्न प्रान्तों में विद्यमान प्रसिद्ध सम्बन्धों का परिणाम बताया। कुछ ने आरोप लगाया कि यह पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव है और दूसरों ने इसे एक आदमी ए० ओ० हयूम की कृति बताया।[1]

वास्तव में भारतीय राष्ट्रवाद का विचार अप्रत्याशित विषय नहीं था। कांग्रेस का उदय विभिन्न कारणों का संयुक्त परिणाम था। यह देश की बदलती परिस्थितियां, भारतीयों के कष्टों का परिणाम थी। अंग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्य साहित्य ने राष्ट्रवाद की भावना को जागृत किया। इसने भारत में अंग्रेजी शिक्षित मध्यम वर्ग को जन्म दिया। इस अंग्रेजी शिक्षित वर्ग ने ब्रिटिश शासन से भारत मुक्ति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस वर्ग ने विभिन्न प्रांतों में बहुत से ऐसोसिएशन या संगठन बनाए। जैसे ब्रिटिश इण्डियन ऐशोसिएशन (कलकत्ता स्थापित 29 अक्टुबर 1851) बम्बई एसोसिएशन (बम्बई 26 अगस्त 1852) बम्बई प्रेजीडेन्सी ऐसोसिएशन (मुम्बई सितम्बर 1885) ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन (उत्तरी पश्चिमी प्रांत अलीगढ़) 1867 अवध की ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन (लखनऊ) मद्रास महाजन सभा (मद्रास जनवरी 1885) पूना सार्वजनिक सभा (पूना 1870) इण्डियन लीग (कलकत्ता 1875) पश्चिमी भारतीय एसोसिएशन (बम्बई 1873) आदि उत्पन्न की।[2]

1883 में इण्डियन एसोसिएशन के संरक्षण में एक सम्मेलन कलकत्ता में बुलाया गया जिसमें एक राजनैतिक संगठन की आवश्यकता का अनुभव किया गया। राजनैतिक नेताओं

[1] वही, पृष्ठ 78

[2] वही, पृष्ठ [illegible]

का विचार था कि भारत स्तर पर एक पार्टी बनाई जाए। वास्तव में यह उस दिन की मांग थी और इसे न तो लार्ड डफरिन और न उसकी परिषद मना नहीं कर सकी। अन्ततः ओ० हयूम ने ताजा परिस्थितियों को अनुभव किया और परिणामस्वरूप दिसम्बर 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हो गई।[1]

हरियाणा में कांग्रेस का उद्भव –

अखिल भारतीय कांग्रेस का पहला अधिवेशन 1 दिसम्बर 1883 में बम्बई में गोकुलदास तेजपाल संस्कृत कालेज की छत के नीचे हुआ। कलकत्ता के एक वकील सर डब्ल्यू सी बैनर्जी ने इसकी अध्यक्षता की। इस पहले अधिवेशन में 27 स्थानों के 72 प्रतिनिधियों ने भाग लिया।[2]

हरियाणा से भी अम्बाला के एक नवयुवक वकील लाला मुरलीधर ने दी ट्रिब्यून के प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया। पंजाब का दूसरा प्रतिनिधि ब्रहम समाज का नेता सत्यानन्द अग्निहोत्री था। एक अन्य व्यक्ति मुंशी ज्वाला प्रसाद (अम्बाला के एक वकील) ने भी पहले अधिवेशन में भाग लिया।[3]

अधिवेशन से पूर्व लाला मुरलीधर ने एक छोटा सा भाषण तैयार किया, जो 'पंजाब विकास परिषद की आवश्यकता क्यों' विषय पर था। उन्होने अपनी वेशभूषा आकृति और अपने भाषण दोनों से रोमांच पैदा कर दिया। उन्होंने पंजाबी कोट तथा पैंट और चमकीली काबुली पगड़ी में अपनी शानदार आकृति प्रस्तुत की। विदाई अधिवेशन में उन्होने बम्बई के आथित्य का आभार प्रकट किया।[4] अपने सम्बोधन में उन्होंने प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व की वकालत की। "Mr. Murlidhar (Umballa) then rose to propore the eighth Resolution :- "That the Resolutions proposed by this Congress be communicated to the political associations in each province, and that these associations be requested with the help of

---

[1] वही, पृ० 80–81
[2] वही, पृ० 81, प्रभाकर देवी शंकर, स्वाधीनता संग्राम और हरियाणा, नई दिल्ली, 1986, पृ० 138
[3] मित्तल, एस० सी० हरियाणा, ए हिस्टोरिकल प्रोस्पैक्टिव, नई दिल्ली, 1986, पृ० 138
[4] वही, पृ० 82

similar bodies and other agencies within their respectivep rovinces to adopt such measures as they may consider calculated to advance the settlement of the various questions dealt with in these Resolutions."[1]

ला० मुरलीधर (अम्बाला) एक गणमान्य व्यक्ति थे जिन्हें ब्रिटिश सरकार ने राय साहब की उपाधि से विभूषित किया था, परन्तु जब वे राष्ट्रीय आन्दोलन में कूदे तो उन्होने ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रदान की गई यह उपाधि वापिस कर दी थी।[2]

कांग्रेस के दूसरे 1886 के कलकत्ता अधिवेशन में हरियाणा के तीन प्रतिनिधियों ने अधिवेशन में भाग लिया। उनमें अम्बाला के लाला मुरलीधर, संगरूर के पं० दीन दयाल शर्मा कोहिनूर (लाहौर) के सम्पादक तथा झज्जर तहसील के गुडयानी गांव के प्रमुख पत्रकार बालमुकुंद गुप्त थे।[3]

लाला मुरलीधरन ने न्यायिक निर्णय की आवश्यकता पर बल देते हुए कहा – "I doubt whether there are many, if any districts in the Punjab where the matarials for execellent juries do not exist. Ican only say that in all the parts of the previnces with which I am acquinted I would far rather be tried by any jury that could be got together than by most of the local magistrates of whom I have had any experience. So far from deprecating the introduction of the system of trial by jury into the Punjab, I advocate it most strongly, and I feel sure that it would be a success.[4]

1887 में पंजाब से कुल नौ प्रतिनिधियों में इस क्षेत्र में केवल लाला मुरलीधर थे। उन्होंने अधिवेशन में कहा इक्ट्ठा किया गया धन गरीबों पर अवश्य खर्च किया जाना चाहिए ना कि आडम्बरों या दिखावे पर। "I recommend that something should be done

[1] Report of the 1st I.N.C. held at Bombay on the 28-30 Dec. 1885
[2] प्रभाकर देवी शंकर, स्वाधीनता संग्राम और हरियाणा, नई दिल्ली, 1986, पृ० 140–141
[3] वही, पृ० 140
[4] Report of the 2nd I.N.C. held at Calcutta on the 27-30 Dec. 1886

RAJA MAHENDRA PRATAP SINGH CHAIR

for the poor man, who lives on the soil of India, so that even the poor man in his hut may long joyfully remember the Jubilee of Her Gracious Majesty's reign."[1]

1888 में कांग्रेस ने कुछ गति पकड़ी। पहली बार लाला लाजपतराय ने 1888 के इलाहाबाद अधिवेशन में जिला हिसार के प्रतिनिध के रूप में भाग लिया। उस अधिवेशन के मुख्य वक्ताओं में से एक थे। सम्भवतः वे पहले भारतीय नेता थे जिन्होने कांग्रेस के मंच से हिन्दी में भाषण दिया। हरियाणा से अधिवेशन में भाग लेने वाले अन्य लोगों में छबीलदास, गौरीशंकर, चूड़ामनी और लाला मुरलीधर, थानसिंह थे।[2]

जब 1889 का अधिवेशन पंजाब में होने की आशा से धन इक्टठा किया। दी ट्रिब्यून ने नेताओं को संदेश दिया कि कांग्रेस का अगला अधिवेशन पंजाब में होगा।

हरियाणा में कांग्रेस में एक नया उत्साह आया। जब हिसार के प्रमुख वकील व आर्य समाज के नेता लाला लाजपतराय इसमें सम्मिलित हुए।

1889 के कांग्रेस के बम्बई अधिवेशन में हरियाणा के लाला लाजपतराय, लाला चूड़ामणी, लाला गौरी शंकर (हिसार), लाला द्वारिकाप्रसाद (अम्बाला) ने भी भाग लिया था।[3] इसमें लाला लाजपतराय ने विधान परिषदों में प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व पर बल देते हुए कहा – (Punjab, No. 1487, in list.) – Brother Delecates, - I do not think I shall be fulfilling my duty to my province if I do not tender the heart-felt gratitude of that province to the gentleman who does himself the honour of championing the cause of the poor and the oppreased. I, belonging to province that is poor, both intallectually and matorially, have a right to say (Cries of "Question.")[4]

---

[1] Report of the 2nd day proceeding of I.N.C on 28th Dec. 1887
[2] Report of the 4th I.N.C held at Allahabad on 26-29th Dec. 1888
[3] मित्तल, एस.सी. हरियाणा, ए हिस्टोरिकल प्रोस्पैक्टिव, नई दिल्ली, 1986, पृ० 82
[4] Report of the 5th I.N.C held at Bombay on 26-28th Dec. 1889

1891 के अधिवेशन में लाला मुरलीधर ने प्रतिनिधियों को विदेशी कपड़ा और विलास की वस्तुओं को छोड़ने के लिए तथा गरीबों के साथ सहानुभूति रखने के लिए उत्साहित किया।[1]

1892 के लाहौर अधिवेशन में भी लाला लाजपत राय ने हिसार का प्रतिनिधित्व किया था।[2] 1892 में लाला लाजपतराय ने हिसार छोड़ दिया और वे लाहौर में वकालत करने लगे। इसलिए कांग्रेस की गतिविधियों में उतार चढाव आये।[3]

1893 में पजांब में पहला अधिवेशन लाहौर में हुआ। शताब्दी के नये वर्षों में भी लोगों ने गतिविधियों में विशेष रूचि नहीं ली।[4]

अम्बाला का डिप्टी कमिश्नर सिकेस राष्ट्रीय आंदोलनकारियों के प्रति बड़ा कठोर तथा नीचतापूर्ण व्यवहार करता था। अतः उसे पाठ पढ़ाने हेतु 29 दिसंबर, 1909 को अम्बाला के क्रांतिकारियों ने उसे अपना निशाना बनाया। उस रात जब सिकेस अपने बंगले से बाहर गया हुआ था तो क्रांतिकारियों ने बंगले के अंदर रास्ते पर इस आशय से बम्ब रख दिया कि डिप्टी कमिश्नर जब वापस लौटे तो इससे टकरा कर मारा जाए। किंतु सिकेस के सितारे बुलंद थे। इससे पहले कि वह इस बम्ब से टकराए, उसके नौकर ने इसे देख लिया और इसे कोई साधारण टिन समझ कर उठा लिया। बम्ब फट पड़ा और नौकर बुरी तरह घायल हो गया।

इस घटना से सरकार सचेत हो गई। अंग्रेजी सरकार ने क्रांतिकारियों को खोजने के लिए अम्बाला के कई घरों की तलाशी ली। जिनमें लाला मुरलीधर के घर की भी तलाशी ली गई।[5]

---

1 मित्तल, एस.सी., हरियाणा ए हिस्टोरिकल प्रौस्पैक्टिव, नई दिल्ली, 1986, पृ० 82
2 प्रभाकर देवी शंकर, स्वाधीनता संग्राम और हरियाणा, नई दिल्ली ,1986, पृ० 141
3 मित्तल, एस.सी., हरियाणा ए हिस्टोरिकल प्रौस्पैक्टिव, नई दिल्ली, 1986, पृ० 82
4 प्रभाकर देवी शंकर, स्वाधीनता संग्राम और हरियाणा, नई दिल्ली, 1986, पृ० 141
5 यादव, के.सी., हरियाणा इतिहास एवं संस्कृति, भाग–2, दिल्ली, 1994, पृ० 170

Copy of a demi-official letter no. 30, dated the 4th January 1910, from the Superintendent of Police, Ambala, to the Deputy Inspector General of Police, Criminal Investigation Department, Punjab.

In attention to your letter of the 2nd January 1910, I had the houses of Lallas Murlidhar, Duni Chand and Pandit Madho Ram, pleaders, in Amballa City and Doctor Hari Nath Mukerjee and Allakhdhari in Ambala Cantoonments, searched yesterday but found nothing of an incriminating nature. Some three other houses were also searched in the City, but nothing was found.[1]

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और हरियाणा का वैश्य समाज – 1885 :–

वैश्य समाज भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से आरम्भिक चरण में सम्मिलित हो गया था। हरियाणा के प्रारम्भिक चरण में वैश्य वर्ग अग्रणीय था। जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाता है –

तालिका

नाम	जिला	जाति	व्यवसाय	शिक्षा
1. मुरलीधर (1850 –1924)	अम्बाला	वैश्य	शहरी वकालत	विधि स्नातक
2. दुनीचन्द (1873–1965)	अम्बाला	खत्री	ग्रामीण वकालत	विधि स्नातक
3. खान अब्दुल गफ्फार खान (1888–1976)	अम्बाला	मुस्लिम राजपूत	ग्रामीण राजनीतिज्ञ	प्राईमरी
4. अब्दुल रसीद (1867–1946)	अम्बाला	"	शहरी वकालत	विधि स्नातक

[1] N.A.I. Home Political – A Confidential F.No. 109-117, March 1910, Page 6

5.	देश बन्धु गुप्ता (1900–1951)	करनाल	वैश्य	शहरी राजनीतिज्ञ	स्नातक
6.	सागर चन्द	गुरूगांव	वैश्य	शहरी वकालत	विधि स्नातक
7.	मातु राम (1872–1942)	रोहतक	जाट	ग्रामीण कृषि	प्राईमरी
8.	छोटू राम (1882–1945)	रोहतक	जाट	ग्रामीण पत्रकार	विधि स्नातक
9.	शाम लाल (1883–1940)	रोहतक	वैश्य	शहरी व्यापार वकालत	विधि स्नातक
10.	दौलत राम गुप्ता (1865)	रोहतक	वैश्य	शहरी व्यापार	मैट्रिक
11.	पीरू सिंह	रोहतक	जाट	ग्रामीण कृषि	मिडिल
12.	पीरूमल (1860–1942)	रोहतक	जाट	ग्रामीण डाक्टर	एल.एस.एम.एफ
13.	बलदेव सिंह (1886)	रोहतक	जाट	ग्रामीण अध्यापक राजनीतिज्ञ	स्नातक बी टी
14.	के0ए0 देसाई (1878–1972)	हिसार	ब्राह्मण	शहरी पत्रकार राजनीतिज्ञ	स्नातक
15.	नूनकरण शोरेवाला (1885–1956)	भिवानी	वैश्य	शहर व्यापार	मैट्रिक
16.	नेकी राम शर्मा (1887–1956)	केलेंगा	ब्राह्मण	ग्रामीण राजनीतिज्ञ	मैट्रिक
17.	कृपाराम 1869	शाहबाद	जाट	ग्रामीण कृषि	प्राईमरी
18.	रामचन्द वैद्य (1869–1967)	भिवानी	वैश्य	शहरी व्यापारी	स्नातक

19. गोपीचन्द भार्गव (1886–1996)	सिरसा	ब्राह्मण	शहरी राजनीतिज्ञ डाक्टर	एमबीबीएस स्नात्कोत्तर
20. ठाकुरदास भार्गव (1886–1962)	हिसार	ब्राह्मण	शहरी वकालत	विधि स्नातक
21. शामलाल (1878–1975)	सिरसा	वैश्य	शहरी वकालत	विधि स्नातक
22. बक्शी राम (1886)	गुजरांवाला	खत्री	शहरी वकालत	विधि स्नातकोत्तर
23. बनारसीदास वैद्य (1866–1960)	भिवानी	वैश्य	शहरी व्यापार	मैट्रिक
24. रामकुमार 1886	भिवानी	ब्राह्मण	शहरी राजनीतिज्ञ	इंटरमीडिएट

ऊपर की तालिका का अध्ययन करने के बाद निम्न तथ्य प्रकाश में आते हैं – कांग्रेस के प्रारम्भिक 24 नेताओं में से 15 शहरी तथा 9 ग्रामीण क्षेत्र से सम्बन्ध रखते थे। केवल चार को छोड़कर दूसरे सभी मध्यम वर्ग से थे, जिनका सम्बन्ध कृषि, डाक्टर, व्यापार, वकालत आदि व्यवसायों से था।[1]

जाति के आधार पर वैश्य नौ, ब्राह्मण पांच, जाट छः, राजपूत तथा अन्य जाति के चार नेता थे। इस प्रकार हरियाणा के प्रारम्भिक कांग्रेस में वैश्य बहुसंख्यक थे।

यहां प्रश्न यह उठता है कि कांग्रेस में शहरी मध्यम वर्ग के वैश्य और ब्राह्मण बहुमत में क्यों थे। इसके बहुत से कारण थे।

पहला कारण था 1900 का पंजाब भूमि अधिग्रहण एक्ट। इस एक्ट के अन्तर्गत भूमि को गैर कृषकों, महाजनों, दुकानदारों तथा व्यवसायियों को बेचकर या उनके साथ सांझा करके भूमि के अलगाव के अधिकार पर रोक लगाना था।

[1] चंद्र, जगदीश, फ्रीडम स्ट्रगल इन हरियाणा, कुरुक्षेत्र, 1982, पृ० 11–14

इसके अतिरिक्त किसानों की सम्पति को महाजनों के विरूद्ध मजबूत बनाने के लिए कई एक्ट पास किए गए। जैसे पंजाब सीमा का अधिनियम 1904, सम्पति स्थानान्तरण अधिनियम 1904 तथा पंजाब भूमि निषेध अधिनियम 1905।

<u>पंजाब भूमि अधिग्रहण एक्ट –1900</u> पंजाब और हरियाणा में सबसे अधिक महत्वपूर्ण घटनाओं में से एक ऐसी घटना थी, जिसमें अत्याचारों के विरूद्ध विद्रोह को जाग्रत किया, वह थी 1900 का पंजाब भूमि अधिग्रहण एक्ट। इस एक्ट ने सभी गिरवियों पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इस का उददेश्य यह था कि साहूकार लोग जमीन को बिना खरीदे अपने पास न रख सकें। दूसरा इसका उददेश्य यह था कि जमींदारों के भूमि बेचने के अधिकारों को रद्द करना। इस बिल ने सभी बिक्रियों को तीन भागों में बांट दिया।

1. बिना कलैक्टर की सहमति के खेती योग्य भूमि को खेती न करने वाले लोगों को न बेच सकना।
2. खेती ना करने वाली जातियों में आपस में क्रय–विक्रय करने की आज्ञा देना।
3. सभी खेती करने वाली जातियों में भूमि बिक्री की आज्ञा देना।

ये गिरवी रखी गई भूमि गिरवी रखने वाले की मृत्यु तक या 20 वर्ष से ज्यादा तक नहीं रखी जा सकती थी। इस बिल से यह प्रावधान किया गया कि यह कानून सारे प्रांत में लागू होगा। लेकिन स्थानीय शासन ने इसे छूट का अधिकार दे दिया ताकि वे किन्हीं क्षेत्रों और लोगों को छूट दे सकें।[1]

सरकारी तौर पर इसका उद्देश्य यह था कि पंजाब में खेती योग्य भूमि को गैर खेती करने वाले लोगों को भूमि से वंचित होने से रोका जा सके। यह कानून जमींदारों को उन साहूकारों से भी बचाना चाहता था जो सरकार के प्रति वफादार सिद्ध हो सकते थे।[2]

इसका उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में भी किसी आन्दोलन को रोकना था और उन किसानों को राहत देना था जो किसी तरह के शोषण, अकाल व बीमारियों के शिकार थे। स्थायी बन्दोबस्त न करने से इस बात को बढ़ावा मिला कि (अधिकारी वर्ग) राजस्व को बढ़ा

[1] मित्तल, एस० सी० हरियाणा, ए हिस्टोरिकल प्रोस्पैक्टिव, नई दिल्ली, 1986, पृ0 84
[2] वही, पृ0 84

चढ़ा कर बताते थे। इससे किसानों के विशेष रूप से मुसलमानों का जीवन प्रभावित हुआ, उन पर कर्जे बढ़ गए और एक तरह से साहूकार से कर्जा बुराई बन गया।[1]

इस बिल का प्रैस व सार्वजनिक नेताओं ने विरोध किया। ऐसा अनुभव किया गया कि यह एक्ट मुसलमान किसानों की सामाजिक व आर्थिक दशा सुधारने के लिए नहीं था। बल्कि पुश्तैनी किसानों से शहरी लोगों को इस भूमि को हड़पने से रोकने के लिए बनाया गया था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने 1899 के लखनऊ अधिवेशन में इस के विरूद्ध एक प्रस्ताव पास किया। यहां तक की अम्बाला के डिविजनल जज टी० सी० जोन सटन जैसे अंग्रेजी सरकार के बड़े–बड़े अफसरों ने भी इसका विरोध किया।

लेकिन सरकारी अफसरों और प्रैस के विरोध के बावजूद भी यह कानून बन गया। वास्तव में यह सरकार की फूट डालो और राज्य करो की नीति के अनुकुल था। और इस प्रश्न ने सामप्रदायिक रूप ले लिया। वास्तव में साहूकारों को सरकार के लिए लगातारा बढ रहें राजनैतिक खतरे को रोंकने की एक चाल थी, गरीब किसानों को किसी भी तरह की राहत देना इस का उदेश्य नहीं था। समाज पर इसका प्रभाव निम्न दो तरीकों से देखा गयां।

इस एक्ट ने गरीब किसानों की सहायता करने की बजाय इसने साहूकारों की एक नई पक्तिं खड़ी कर दी जो अग्रेंजी सरकार के प्रति वफादार थी। इसके विपरीत हिन्दू मध्य वर्ग नें अग्रेजों के विरूद्ध अपनी शिकायत की और मुस्लमान किसानों को उनसे अलग करने की कोशिश की।[1]

इस कानून ने हिन्दू साहूकारों, दुकानदारों अन्य कर्मचारियों और विशेष रूप से वैश्यों को सरकार के विरूद्ध कर दिया। जो व्यापारी लोग इस बिल के विरूद्ध थे वे सभी काग्रेंस में शामिल हो गए। यह कहा जाने लगा कि इस बिल से जनता की निजि सम्पति रखने के अधिकार में हस्तक्षेप है और साथ ही साथ हिन्दू साहूकारों को बलि का बकरा बनाने का

[1] वही, पृ0 84–85

एक खुलमखुला प्रयत्न है। 1900 के लाहौर अधिवेशन में काग्रेंस ने इस एक्ट का विरोध किया। ऐसा अनुभव किया गया कि प्रान्त में नई राजनैतिक गतिविधियां बढ़ेगी। शायद समाज के प्रत्येक वर्ग के लोगों को राजनिति में कूदने का अवसर मिल गया।[2]

शिक्षित हिन्दुओं व सिक्खों को इस एक्ट के लाभों से वंचित कर दिया गया जबकि भूमि उनके पास बहुत पहले से थी । यह एक्ट 8 जून, 1901 को लागू हो गया।

इस एक्ट का विरोध करने में प्रान्त का वैश्य वर्ग काग्रेंस के पास आ गया, जाट लोग काग्रेंस से दूर हो गए। ब्राहम्ण वर्ग जाटों से अलग हो गया।[3]

पंजाब भूमि अधिग्रहण संशोधन अधिनियम 1906 – वर्तमान विधेयक के अंतर्गत प्रथम और महत्वपूर्ण किया गया संशोधन कानूनी तौर पर खेतीहर किसान का उन्मूलन करना है। उसका उन्मूलन प्रस्तावित इसलिए नहीं किया गया है कि वह पहले से ही जमींदार की भूमि को जोत रहा है बल्कि इसलिए किया गया है कि यह अधिनियम उसको ऐसा करने का अवसर प्रदान करता है।

वे काश्तकार जो अधिसूचित कृषि करने वाले वर्ग के सदस्य नहीं है वह निम्नलिखित वर्गों में से किसी एक के साथ सम्बन्ध रखेगे। जैसे – बनिया 1.जो कि गांव का दुकानदार हो या अनाज का व्यापारी हो या साहूकार चाहे व किसी जाति या समुदाय से हो। 2.विस्थापित हिन्दू, जो साहूकार नहीं थे। 3. ग्रामीण आर्थिक दास 4. या वे लोग जो कृषि का कार्य करते हों, परन्तु सामान्यतः दूसरे व्यवसाय भी अपनाते हों, जैसे व्यापार, साहूकारा, सैनिक तथा दूसरी सेवायें।

इस अधिनियम में यह एक सैद्धान्तिक दोष रहा कि बनिया को उच्च जाति के आधार तथा पंजाब के ग्रामीण ढांचे से विशेष परिस्थितियों के आधार पर उसको अलग–थलग कर दिया। इस अधिनियम में काश्तकार की परिभाषा एक ऐसा व्यक्ति होना बताया गया जो

---

[1] वही, पृ0 85
[2] वही, पृ0 85
[3] वही, पृ0 85

स्वयं भूमि स्वामी हो या उसके पूर्वज भू–स्वामी हों। भूमि उन्मूलन अधिनियम गिरवी रखना तथा बेचना को प्रतिबन्धित करता था।[1]

पंजाब भूमि अधिग्रहण संशोधन एक्ट 1906 नें साम्प्रदायिक सद्भाव को और भी कम कर दिया। इस ने नेताओ को सरकार के विरूद्ध लोगों को तैयार करने की कोशिश की।

लार्ड कर्जन की समय अवधि की समाप्ति के बाद और लार्ड मिण्टो के भारत का नया गवर्नर बनने पर भी अशान्ति शान्त नहीं हुई। यद्यपि यह प्राकृतिक आपदाओं जैसे प्लेग, अकाल और दमन के परिणाम स्वरूप कष्टों में वृद्धि हुई।[2] 19वीं शताब्दी ने जाते जाते हरियाणा के लोगेां को दुखों की ऐसी चोट मारी कि लोग उन भयंकर दुर्भिक्षों को बहुत दिनों तक नहीं भूलें। दुर्भिक्ष की अन्तिम मार 1900 में हुई। तीन वर्षों के बाद 1904 में प्लेग का दानवी रूप जनता ने भोगा। प्लेग की महामारी का यह प्रकोप लगातार तीन वर्ष बना रहा। गांव के गांव उजड़ गए।[3] कुछ कानूनों जैसे पंजाब सीमा एक्ट 1904, सम्पति हस्तांतरण एक्ट 1904, पंजाब पूर्व एक्ट 1905, ने साहूकारों की स्थिति को और कमजोर कर दिया था।[4] पजांब भूमि अधिग्रहण सुधार एक्ट 1906 नें स्वामित्व के हस्तांतरण पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिया था। इस एक्ट ने विशेष रूप से हिन्दू व्यापारिक जातियों में राजनितिक अंसतोष पैदा किया। इससे राजनैतिक असंतोष फैला और कड़वाहट पैदा हुई। यह एक्ट 5 मार्च 1907 को कानून बन गया।[5]

वैश्य अधिकार एक्ट पर भी अप्रसन्न थे। इस एक्ट का अर्थ था कि सरकार अधिक लाभ पर अधिक कर लगा सके। बड़ी आय वालों पर अतिरिक्त बोझ डालने के उददेश्य से अप्रैल 1917 में एक अतिरिक्त कर और प्रभाव में आ गया था। इसके अतिरिक्त वैश्य नये आयकर एक्ट और पूछताछ के नये तरीके से भी काफी प्रभावित थे।[6] किसानों के लाभ के लिए सहकारी समितियों और सहकारी बैंकों का भी प्रयोग किया गया।

---

[1] शर्मा, श्री राम, पंजाब इनप्रमैंट, नई दिल्ली, 1971, पृ० 57
[2] मित्तल, एस० सी० हरियाणा, ए हिस्टोरिकल प्रोस्पैक्टिव, नई दिल्ली, 1986, पृ0 87
[3] प्रमाकर देवी शंकर, स्वाधीनता संग्राम और हरियाणा, नई दिल्ली, 1986, पृ० 147
[4] मित्तल, एस० सी० हरियाणा, ए हिस्टोरिकल प्रोस्पैक्टिव, नई दिल्ली, 1986, पृ0 87
[5] वही पृ० 88, प्रमाकर, देवी शंकर, स्वाधीनता संग्राम और हरियाणा, नई दिल्ली, 1986, पृ0 87
[6] चन्द्र जगदीश, फ्रीडम स्ट्रगल इन हरियाणा, कुरूक्षेत्र, 1982, पृ0 87

उपर्युक्त उपायों से असंतुष्ट ग्रामीण और शहरी क्षेत्र के (मध्यम वर्गीय) वैश्य ब्रिटिश विरोधी हो गये और सब कांग्रेस में शामिल हो गए।[1]

लाला लाजपतराय की बढती हुई राजनितिक लोकप्रियता से घबराकर पंजाब के तत्कालीन लैफटिनैन्ट–गवर्नर–सर डेन्जिल इन्टसन के कहने पर भारत के वायसराय लार्ड मिण्टो ने उन्हें देश निकाला देकर माण्डले (बर्मा) भिजवा दिया। इससे समस्त भारत में बेचैनी फेल गई। पत्र पत्रिकाओं में सरकार विरोधी सम्पादकीय लिखे गए, जनता ने जलसे और जलूसों द्वारा रोष प्रकट किया तथा क्रान्तिकारी युवको ने हिसांत्मक कार्यवाही भी की। दूसरी तरफ सरकार ने भी दमन चक्र चलाया। समाचार पत्रों पर रोक लगा दी, जलसे, जलूसों पर प्रतिबंध लगा दिया।[2]

सरकार की उपर्युक्त कार्यवाही से कांग्रेस की गतिविधियां शिथिल पड़ गई। कितने ही लोग डर कर इस संस्था से अलग हो गये। ऐसे समय में बाबु बालमुकुंद गुप्त (गुडयानी) ने इस वातावरण का अपनी एक कविता में बड़ा सजीव चित्रण किया। हरियाणा के बहुत सारे नेताओं नें तथा दुसरे प्रान्तों और अखिल भारतीय स्तर पर सरकार को भी बहुत बुरा–भला कहा गया। इस सब का सरकार पर बहुत प्रभाव पड़ा। इसके परिणाम स्वरूप सरकार ने 14 नवम्बर 1907 को लाला लाजपत राय को छोड़ दिया। उनके आने से हरियाणा के आर्य समाजियों ने और उनके माध्यम से कांग्रेस में नये प्राण पड़ गये।[3]

<u>बंगाल विभाजन और स्वदेशी आन्दोलन –</u> 1900 के पंजाब भूमि अधिग्रहण एक्ट के साथ दूसरे क्षेत्रों की तरह हरियाणा ने भी लार्ड कर्जन के अत्याचार पूर्ण कार्यो की गवाही दी। उसके प्रशासन के परिणाम स्वरूप हरियाणा के शहरों और कस्बों में आलोचना तेज हो गई। वास्तव में उसके प्रशासन पर सार्वजनिक विचारों वाले नेताओं और क्षेत्रीय प्रैस ने तेजी

---

[1] वही, पृ० 16
[2] यादव, के० सी० हरियाणा का इतिहास एवं संस्कृति, भाग 2, दिल्ली, 1994, पृ० 176
[3] वही, पृ० 176–177

से हमला किया। उदाहरण के लिए हरियाणा के प्रमुख हिन्दी लेखक बाबू लाल मुकुन्द गुप्त ने कर्जनशाही की तुलना नादिरशाह और उसको लार्ड लिटन से भी बुरा बताया।[1]

बंगाल विभाजन के शीघ्र पश्चात् विभाजन विरोधी आन्दोलन और स्वदेशी तथा बहिष्कार आन्दोलन और तेज हो गया। शीघ्र ही यह आन्दोलन बंगाल की सीमाओं को पार कर गया और राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप धारण कर गया। 1891 में कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में लाला मुरलीधर ने विदेशी कपड़ों को त्यागने का आवह्रान किया था। उन्होंने दो बार 1894 में कांग्रेस अधिवेशन में अपने विचारों को आवाज दी थी। विदेशी कपड़े, चीनी आदि के विरूद्ध एक प्रबल आन्दोलन चलाया गया था। हरियाणा के कस्बों के लोग स्वदेशी आन्दोलन के सिद्धान्तों को लेकर बहुत उत्सुक थे। दी ट्रिब्यून ने लोगों को स्वंय सत्यनिष्ठ प्रतिज्ञा करने की अपील की कि वे विदेशी वस्तुओं को न छूएं। हरियाणा के विभिन्न शहरों में सभाओं का आयोजन किया गया। उदाहरण के लिए दशहरे के दिन रोहतक में एक जैन युवक ने सभा आयोजित की, जिसमें एक वकील लाला जौहरीमल ने सभा की अध्यक्षता की। जहां इटली और जर्मनी के वस्त्र विक्रेताओं की बुराई की गई। अक्टुबर 1905 में पंजाब स्वदेशी एसोसिएशन द्वारा लाहौर में एक सभा हुई इसका उद्देश्य स्वदेशी वस्तुओं की जानकारी देना तथा उन्हें प्रोत्साहित करना था।

यह निश्चित किया गया कि सीमित उत्तरदायित्व के साथ एक कम्पनी स्थापित की जाये। परिणामस्वरूप 21 अक्टुबर 1905 को अम्बाला के हिन्दू हाल में स्वदेशी कम्पनी की स्थापना हुई जिसमें बहुत से लोगों ने भाग लिया। यह सभा लाला मुरलीधर की अध्यक्षता में हुई जिसमें लाला बेनी प्रसाद, द्वारका दास ने भी भाग लिया। इसी प्रकार की सभा अम्बाला छावनी और दूसरे स्थानों पर भी हुई।[2]

वैश्य समाज अपने आर्थिक प्रभुत्व, प्रशासनिक योग्यता, वंशीय परम्परा, राजनैतिक योग्यता व प्राचीन काल में विभिन्न साम्राज्यों की स्थापना, मुगलकाल में प्रशासनिक योग्यता और अंग्रेजी काल में विविध गतिविधियों के कारण वैश्य समाज इतिहास में विशेष स्थान

---

[1] मित्तल, एस० सी० हरियाणा, ए हिस्टोरिकल प्रोस्पैक्टिव, नई दिल्ली, 1986, पृ0 86
[2] वही, पृ0 86–87

रखता है। हमारे अध्ययनाधीन काल में वैश्य वर्ग स्वतंत्रता आंदोलन में अग्रणीय रहा जैसा कि अगले अध्यायों के सर्वेक्षण से पता चलता है।